२२९—कोई उत्पल, पद्म, कुमुद, मालती या अन्य किसी सचित्त पुष्प का छेदन कर भिक्षा दे—(५।२।१४)

२३०—वह भक्त-पान संयति के लिए कल्पनीय नहीं होता, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री का प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता। (५।२।१५)

२३१—कोई उत्पल, पद्म, कुमुद, मालती या अन्य किसी सचित्त पुष्प को कुचल कर भिक्षा दे—(५।२।१६)

२३२—वह भक्त-पान संयति के लिए कल्पनीय नहीं होता, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री का प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता। (५।२।१७)

२३३—दुल्लहा उ मुहादाई
मुहाजीवी वि दुल्लहा ।
मुहादाई मुहाजीवी
दो वि गच्छंति सोग्गइं ॥ (५।१।१००)

२८३—मुधादायी दुर्लभ है और मुधाजीवी भी दुर्लभ है। मुधादायी और मुधाजीवी दोनों सुगति को प्राप्त होते हैं। (५।१।१००)

२५ : पाणेसणा

२३४—तहेवुच्चावयं पाणं
अदुवा वार-धोयणं ।
संसेइमं चाउलोदगं
अहुणा-धोयं विवज्जए ॥ (५।१।७५)

२३५—जं जाणेज्ज चिराधोयं
मईए दंसणेण वा ।
पडिपुच्छिऊण सोच्चा व
जं च निस्संकियं भवे ॥ (५।१।७६)

२३६—अजीवं परिणयं नच्चा
पडिगाहेज्ज संजए ।
अह संकियं भवेज्जा
आसाइत्ताण रोयए ॥ (५।१।७७)

२३७—थोवमासायणट्ठाए
हत्थगम्मि दलाहि मे ।
मा मे अच्चंबिलं पूइं
नालं तण्हं विणित्तए ॥ (५।१।७८)

२३८—तं च अच्चंबिलं पूइं
नालं तण्हं विणित्तए ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥ (५।१।७६)

२३६—तं च होज्ज अकामेणं
विमणेण पडिच्छियं ।
तं अप्पणा न पिबे
नो वि अन्नस्स दावए ॥ (५।१।८०)

१४०—एगंतमवक्कमित्ता
अचित्तं पडिलेहिया ।
जयं परिट्ठवेज्जा
परिट्ठप्प पडिक्कमे ॥ (५।१।८१)

२६ : कहं भासे ?

२४१—दिट्ठं मियं असंदिद्धं
पडिपुन्नं वियं जियं ।
अयंपिरमणुव्विग्गं
भासं निसिर अत्तवं ॥ (८।४८)

२४२—बहुं सुणेइ कण्णेहिं
बहुं अच्छीहिं पेच्छइ ।
न य दिट्ठं सुयं सव्वं
भिक्खू अक्खाउमरिहइ ॥ (८।२०)

२४३—सुयं वा जइ वा दिट्ठं
न लवेज्जोवघाइयं । (८।२१)

२६ : कहं भासे ?

२४१—दिट्ठं मियं असंदिद्धं
पडिपुन्नं वियं जियं ।
अयंपिरमणुव्विग्गं
भासं निसिर अत्तवं ॥ (८।४८)

२४२—बहुं सुणेइ कण्णेहिं
बहुं अच्छीहिं पेच्छइ ।
न य दिट्ठं सुयं सव्वं
भिक्खू अक्खाउमरिहइ ॥ (८।२०)

२४३—सुयं वा जइ वा दिट्ठं
न लवेज्जोवघाइयं । (८।२१)

२६ : कैसे बोले ?

२४१—आत्मवान् दृष्ट, परिमित, असंदिग्ध, प्रतिपूर्ण व्यक्त, परिचित, वाचालता-रहित और भय-रहित भाषा बोले। (८।४८)

२४२—कानों से बहुत सुनता है, आँखो से बहुत देखता है। किन्तु सब देखे और सुने को कहना भिक्षु के लिए उचित नही। (८।२०)

२४३—सुना या देखा हुआ औपघातिक वचन साधु न कहे। (८।२१)

२४४—अपुच्छिओ न भासेज्जा
भासमाणस्स अंतरा ।
पिट्ठिमंसं न खाएज्जा
मायामोसं विवज्जए ॥ (८।४६)

२४५—अप्पत्तियं जेण सिया
आसु कुप्पेज्ज वा परो ।
सव्वसो तं न भासेज्जा
भासं अहियगामिणिं ॥ (८।४७)

२४६—आयार - पन्नत्ति - धरं
दिट्ठिवायमहिज्जगं ।
वइ-विक्खलियं नच्चा
न तं उवहसे मुणी ॥ (८।४६)

२४७—चउण्हं खलु भासाणं
परिसंखाय पन्नवं ।
दोण्हं तु विणयं सिक्खे
दो न भासेज्ज सव्वसो ॥ (७।१)

२४४—विना पूछे न बोले, बीच मे न बोले, चुगली न खाए और कपट-पूर्ण असत्य का वर्जन करे। (८।४६)

२४५—जिससे अप्रीति उत्पन्न हो और दूसरा शीघ्र कुपित हो, ऐसी अहितकर भाषा सर्वथा न बोले। (८।४७)

२४६—आचार (वाक्यरचना के नियमो) को तथा प्रज्ञापन की पद्धति को जानने वाला और दृष्टिवाद (नयवाद) का अभिज्ञ मुनि बोलने मे स्खलित हुआ है (उसने वचन, लिंग और वर्ण का विपर्यास किया है), यह जान कर भी मुनि उसका उपहास न करे। (८।४९)

२४७—प्रज्ञावान् मुनि चारो भाषाओं को जानकर दो के द्वारा विनय (शुद्ध प्रयोग) सीखे और दो सर्वथा न वोले। (७।१)

२४८—जा य सच्चा अवत्तव्वा
सच्चामोसा य जा मुसा ।
जा य बुद्धेहिं णाइन्ना
न तं भासेज्ज पन्नवं ॥ (७।२)

२४९—असच्चमोसं सच्चं च
अणवज्जमकक्कसं ।
समुप्पेहमसंदिद्धं
गिरं भासेज्ज पन्नवं ॥ (७।३)

२५०—वितहं पि तहामुत्तिं
जं गिरं भासए नरो ।
तम्हा सो पुट्ठो पावेणं
किं पुण जो मुसं वए ॥ (७।५)

२४८—जो अवक्तव्य-सत्य, सत्यमृषा (मिश्र) मृषा और (असत्यामृषा-व्यवहार) भाषा बुद्धों के द्वारा अनाचीर्ण हो, उसे प्रज्ञावान् मुनि न बोले। (७।२)

२४६—प्रज्ञावान् मुनि असत्यामृषा और सत्य-भाषा—जो अनवद्य, मृदु और सन्देह-रहित हो, उसे सोच-विचार कर बोले। (७।३)

२५०—जो पुरुष सत्य दीखने वाली असत्य वस्तु का आश्रय लेकर बोलता है (पुरुष वेषधारी स्त्री को पुरुष कहता है) उससे भी वह पाप से स्पृष्ट होता है तो फिर उसका क्या कहना जो साक्षात् मृषा बोले। (७।५)

२७ : वायावाय-विवेग

२५१—पंचिंदियाण पाणाणं
एस इत्थी अयं पुमं ।
जाव णं न विजाणेज्जा
ताव जाइ त्ति आलवे ॥ (७।२१)

२५२—तहेव मणुस्सं पसुं
पक्खिं वा वि सरीसिवं ।
थुले पमेइले वज्झे
पाइमे त्ति य नो वए ॥ (७।२२)

२५३—परिवुड्ढे ति णं बूया
बूया उवचिए त्ति य ।
संजाए पीणिए वा वि
महाकाए त्ति आलवे ॥ (७।२३)

२९ : संदिग्ध-भाषा-वर्जन

२८१—वह धीर पुरुष उस अनुज्ञात असत्यामृषा को भी न वोले, जो अपने आशय को 'यह अर्थ है या दूसरा'—इस प्रकार सदिग्ध वना देती है। (७।४)

२८२—अतीत, वर्तमान और अनागत काल के जिस अर्थ मे शका हो, उसे 'यह इस प्रकार ही है'—ऐसा न कहे। (७।९)

२८३—अतीत, वर्तमान और अनागत काल-सम्बन्धी जो अर्थ निःशकित हो (उसके वारे मे) 'यह इस प्रकार ही है'—ऐसा कहे। (७।१०)

२८४—तम्हा गच्छामो वक्खामो
अमुगं वा णं भविस्सई ।
अहं वा णं करिस्सामि
एसो वा णं करिस्सई ॥ (७।६)

२८५—एवमाई उ जा भासा
एस-कालम्मि संकिया ।
संपयाईय - मट्ठे वा
तं पि धीरो विवज्जए ॥ (७।७)

२८६—अईयम्मि य कालम्मी
पच्चुप्पन्नमणागए ।
जमट्ठं तु न जाणेज्जा
एवमेयं ति नो वए ॥ (७।८)

२८४—इसलिए 'हम जायेंगे', कहेंगे, हमारा अमुक कार्य हो जाएगा, मैं यह करूंगा, अथवा यह (व्यक्ति) यह (कार्य) करेगा। (७।६)

२८५—ऐसी और इस प्रकार की दूसरी भापा जो भविष्य सम्वन्धी होने के कारण (सफलता की दृष्टि से) शकित हो अथवा वर्तमान और अतीत काल-सम्वन्वी अर्थ के वारे मे शकित हो, उसे भी धीर पुरुप न वोले। (७।७)

२८६—अतीत, वर्तमान और अनागत काल सम्वन्धी अर्थ को (सम्यक् प्रकार से) न जाने, उसे 'यह इस प्रकार ही है'—ऐसा न कहे। (७।८)

३० : फरुस-भासा-वज्जण

२८७—तहेव फरुसा भासा
गुरु - भूओवघाइणी ।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा
जओ पावस्स आगमो ॥ (७।११)

२८८—तहेव काणं काणे त्ति
पंडगं पंडगे त्ति वा ।
वाहियं वा वि रोगि त्ति
तेणं चोरे त्ति नो वए ॥ (७।१२)

२८९—एएणन्नेण वट्ठेण
परो जेणुवहम्मई ।
आयारभावदोसन्नू
न तं भासेज्ज पन्नवं ॥ (७।१३)

३० : कठोर भापा-वर्जन

२८७—इसी प्रकार परुप और महान् भूतोपघात करने वाली सत्य-भापा भी न वोले क्योंकि इससे पाप-कर्म का वघ होता है। (७।११)

२८८—इसी प्रकार काने को काना, नपुसक को नपुसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर न कहे। (७।१२)

२८९—आचार (वचन-नियमन) सवघी भाव-दोप (चित्त के प्रद्वेष या प्रमाद) को जानने वाला प्रज्ञावान् पुरुप पूर्व श्लोकोक्त अथवा इसी अर्थ को दूसरी भापा, जिससे दूसरे को चोट लगे, न वोले। (७।१३)

२६०—तहेव होले गोले त्ति
साणे वा वसुले त्ति य ।
दमए दुहए वा वि
नेवं भासेज्ज पन्नवं ॥ (७।१४)

२६०—इसी प्रकार प्रज्ञावान् मुनि रे होल !, रे गोल !, ओ कुत्ता !, ओ वृषल !, ओ द्रमक !, ओ दुर्भग !,—ऐसा न वोले। (७।१४)

३१ : ममत्त-भासा-वज्जण

२६१—अज्जिए पज्जिए वा वि
अम्मो माउस्सिय त्ति य ।
पिउस्सिए भाइणेज्ज त्ति
धूए नत्तुणिए त्ति य ॥ (७।१५)

२६२—हले हले त्ति अन्ने त्ति
भट्टे सामिणि गोमिणि ।
होले गोले वसुले त्ति
इत्थियं नेवमालवे ॥ (७।१६)

२६३—नामधिज्जेण णं बूया
इत्थीगोत्तेण वा पुणो ।
जहारिहमभिगिज्झ
आलवेज्ज लवेज्ज वा ॥ (७।१७)

३१ : ममतामयी भाषा-वर्जन

२९१—हे आर्यिके !, (हे दादी !, हे नानी !), हे प्रार्यिके !, (हे परदादी !, हे परनानी !), हे अम्ब ! (हे मा !), हे मोसी !, हे बुआ !, हे भानजी !, हे पुत्री !, हे पोती !, (७।१५)

२९२—हे हले !, हे हली !, हे अन्ने !, हे भट्टे !, हे स्वामिनि !, हे गोमिनि !, हे होले !, हे वृपले ! - इस प्रकार स्त्रियो को आमन्त्रित न करे। (७।१६)

२९३—किन्तु यथायोग्य (अवस्था, देश, ऐश्वर्य आदि की अपेक्षा से) गुण-दोप का विचार कर एक बार या बार-बार उन्हे उनके नाम या गोत्र से आमन्त्रित करे। (७।१७)

२९४—अज्जए पज्जए वा वि
बप्पो चुल्लपिउ त्ति य ।
माउला भाइणेज्ज त्ति
पुत्ते नत्तुणिय त्ति य ॥ (७।१८)

२९५—हे हो हले त्ति अन्ने त्ति
भट्टा सामिय गोमिए ।
होल गोल वसुले त्ति
पुरिसं नेवमालवे ॥ (७।१९)

२९६—नामधेज्जेण णं बूया
पुरिसगोत्तेण वा पुणो ।
जहारिहमभिगिज्झ
आलवेज्ज लवेज्ज वा ॥ (७।२०)

२९४—हे आर्यक !, (हे दादा !, हे नाना !), हे प्रार्यक !, (हे परदादा !, हे परनाना), हे पिता !, हे चाचा !, हे मामा !, हे भानजा !, हे पुत्र !, हे पोता ! (७।१८)

२९५—हे हल !, हे अन्न !, हे भट्ट !, हे स्वामिन् !, हे गोमिन् !, हे होल !, हे गोल !, हे वृपल !—इस प्रकार पुरुप को आमन्त्रित न करे। (७।१९)

२९६—किन्तु यथायोग्य (अवस्था, देश, ऐश्वर्य आदि की अपेक्षा से) गुण-दोप का विचार कर एक बार या बार-बार उन्हें उनके नाम या गोत्र से आमन्त्रित करे। (७।२०)

३२ : सावज्ज-भासा-वज्जण

२६७—तहेव सावज्जं जोगं
परस्सट्ठाए निट्ठियं ।
कीरमाणं ति वा नच्चा
सावज्जं न लवे मुणी ॥ (७।४०)

२६८—सुकडे त्ति सुपक्के त्ति
सुछिन्ने सुहडे मडे ।
सुनिट्ठिए सुलट्ठे त्ति
सावज्जं वज्जए मुणी ॥ (७।४१)

२६९—पयत्त-पक्के त्ति व पक्कमालवे
पयत्त-छिन्न त्ति व छिन्नमालवे ।
पयत्त-लट्ठ त्ति व कम्महेउयं
पहार-गाढ त्ति व गाढमालवे ॥ (७।४२)

३२ : सावद्य-भाषा-वर्जन

२६७—इस प्रकार दूसरे के लिए किए गए अथवा किए जा रहे सावद्य व्यापार को जानकर मुनि सावद्य वचन न बोले ! जैसे—(७।४०)

२६८—बहुत अच्छा किया है (भोजन आदि), बहुत अच्छा पकाया है (घेवर आदि), बहुत अच्छा छेदा है (पत्र-शाक आदि), बहुत अच्छा हरण किया है (शाक की तिक्तता आदि), बहुत अच्छा मरा है (दाल या सत्तू मे घी आदि), बहुत अच्छा रस निष्पन्न हुआ है, बहुत ही इष्ट है (चावल आदि)—मुनि इन सावद्य वचनो का प्रयोग न करे। (७।४१)

२६९—(प्रयोजनवश कहना हो तो) सुपक्व (पके हुए) को प्रयत्न-पक्व कहा जा सकता है। सुच्छिन्न (छेदे हुए) को प्रयत्नच्छिन्न कहा जा सकता है, कर्म-हेतुक (शिक्षा पूर्वक किए हुए) को प्रयत्न-लष्ट कहा जा सकता है। गाढ़ (गहरे घाव वाले) को प्रहार गाढ़ कहा जा सकता है। (७।४२)

३३ : कयविक्कय-भासा-वज्जण

३००—सव्वुक्कसं परग्घं वा
अउलं नत्थि एरिसं ।
अवक्कियमवत्तव्वं
अचियत्तं चेव नो वए ॥ (७।४३)

३०१—सुक्कीयं वा सुविक्कीयं
अकेज्जं केज्जमेव वा ।
इमं गेण्ह इमं मुंच
पणियं नो वियागरे ॥ (७।४५)

२३ : क्रय-विक्रय भाषा-वर्जन

२००—(क्रय-विक्रय के प्रसगो मे) यह वस्तु सर्वोत्कृष्ट है, यह बहुमूल्य है, यह तुलना रहित है, इसके समान दूसरी वस्तु कोई नही है, यह अभी विक्रेय नही है, यह अवर्णनीय है, यह अचिन्त्य है—इस प्रकार न कहे। (७।४३)

२०१—पण्य-वस्तु के बारे मे (यह माल) अच्छा खरीदा, (बहुत सस्ता आया), (यह माल) अच्छा बेचा (बहुत नफा हुआ), यह बेचने योग्य नही है, यह बेचने योग्य है, इस माल को ले (यह महगा होने वाला है), इस माल को बेच डाल (यह सस्ता होने वाला है)—इस प्रकार न कहे। (७।४५)

३४ : निग्गन्थ

३०२—पंचासव परिन्नाया
तिगुत्ता छसु संजया ।
पंचनिग्गहणा धीरा
निग्गंथा उज्जुदंसिणो ॥ (३।११)

३०३—परीसहरिऊदंता
धुय-मोहा जिइंदिया ।
सव्व - दुक्खप्पहीणट्ठा
पक्कमंति महेसिणो ॥ (३।१३)

३०४—तवं चिमं संजम-जोगयं च
सज्झाय-जोगं च सया अहिट्ठए ।
सूरे व सेणाए समत्तमाउहे
अलमप्पणो होइ अलं परेसिं ॥ (८।६१)

२६ : संदिग्ध-भाषा-वर्जन

२८१—वह धीर पुरुष उस अनुज्ञात असत्यामृषा को भी न बोले, जो अपने आशय को 'यह अर्थ है या दूसरा'—इस प्रकार संदिग्ध बना देती है। (७।४)

२८२—अतीत, वर्तमान और अनागत काल के जिस अर्थ में शंका हो, उसे 'यह इस प्रकार ही है'—ऐसा न कहे। (७।६)

२८३—अतीत, वर्तमान और अनागत काल-सम्बन्धी जो अर्थ निःशंकित हो (उसके बारे में) 'यह इस प्रकार ही है'—ऐसा कहे। (७।१०)

२८४—तम्हा गच्छामो वक्खामो
अमुगं वा णं भविस्सई ।
अहं वा णं करिस्सामि
एसो वा णं करिस्सई ॥ (७।६)

२८५—एवमाई उ जा भासा
एस-कालम्मि संकिया ।
संपयाईय - मट्ठे वा
तं पि धीरो विवज्जए ॥ (७।७)

२८६—अईयम्मि य कालम्मी
पच्चुप्पन्नमणागए ।
जमट्ठं तु न जाणेज्जा
एवमेयं ति नो वए ॥ (७।८)

२८४—इसलिए 'हम जायेंगे', कहेंगे, हमारा अमुक कार्य हो जाएगा, मैं यह करूंगा, अथवा यह (व्यक्ति) यह (कार्य) करेगा। (७।६)

२८५—ऐसी और इस प्रकार की दूसरी भाषा जो भविष्य सम्बन्धी होने के कारण (सफलता की दृष्टि से) शंकित हो अथवा वर्तमान और अतीत काल-सम्बन्धी अर्थ के बारे में शंकित हो, उसे भी धीर पुरुष न बोले। (७।७)

२८६—अतीत, वर्तमान और अनागत काल सम्बन्धी अर्थ को (सम्यक् प्रकार से) न जाने, उसे 'यह इस प्रकार ही है'—ऐसा न कहे। (७।८)

३० : कठोर भाषा-वर्जन

२८७—इसी प्रकार परुष और महान् भूतोपघात करने वाली सत्य-भाषा भी न बोले क्योंकि इससे पाप-कर्म का बंध होता है। (७।११)

२८८—इसी प्रकार काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर न कहे। (७।१२)

२६०—इसी प्रकार प्रज्ञावान् मुनि रे होल !, रे गोल !, ओ कुत्ता !, ओ वृषल !, ओ द्रमक !, ओ दुर्भग !,—ऐसा न बोले। (७।१४)

३१ : ममतामयी भाषा-वर्जन

२८१—हे आर्यिके !, (हे दादी !, हे नानी !), हे प्रार्यिके !, (हे परदादी !, हे परनानी !), हे अम्ब ! (हे मां !), हे मौसी !, हे बुआ !, हे भानजी !, हे पुत्री !, हे पोती !, (७।१५)

२८२—हे हले !, हे हलि !, हे अन्ने !, हे भट्टे !, हे स्वामिनि !, हे गोमिनि !, हे होले !, हे वृषले ! इस प्रकार स्त्रियों को आमन्त्रित न करे। (७।१६)

३१ : ममत्त-भासा-वज्जण

२९१—अज्जिए पज्जिए वा वि
अम्मो माउस्सिय त्ति य ।
पिउस्सिए भाइणेज्ज त्ति
धूए नत्तुणिए त्ति य ॥ (७।१५)

२९२—हले हले त्ति अन्ने त्ति
भट्ट सामिणि गोमिणि ।
होले गोले वसुले त्ति
इत्थियं नेवमालवे ॥ (७।१६)

२९३—नामधिज्जेण णं बूया
इत्थीगोत्तेण वा पुणो ।
जहारिहमभिगिज्झ
आलवेज्ज लवेज्ज वा ॥ (७।१७)

३१ : ममत्त-भासा-वज्जण

२९१—अज्जिए पज्जिए वा वि
अम्मो माउस्सिय त्ति य ।
पिउस्सिए भाइणेज्ज त्ति
धूए नत्तुणिए त्ति य ॥ (७।१५)

२९२—हले हले त्ति अन्ने त्ति
भट्टे सामिणि गोमिणि ।
होले गोले वसुले त्ति
इत्थियं नेवमालवे ॥ (७।१६)

२९३—नामधिज्जेण णं बूया
इत्थीगोत्तेण वा पुणो ।
जहारिहमभिगिज्झ
आलवेज्ज लवेज्ज वा ॥ (७।१७)

२६४—अज्जए पज्जए वा वि
वप्पो चुल्लपिउ त्ति य ।
माउला भाइणेज्ज त्ति
पुत्ते नत्तुणिय त्ति य ॥ (७।१८)

२६५—हे हो हले त्ति अन्ने त्ति
भट्टा सामिय गोमिए ।
होल गोल वसुले त्ति
पुरिसं नेवमालवे ॥ (७।१६)

२६६—नामधेज्जेण णं बूया
पुरिसगोत्तेण वा पुणो ।
जहारिहमभिगिज्झ
आलवेज्ज लवेज्ज वा ॥ (७।२०)

३२ : सावज्ज-भासा-वज्जण

२९७—तहेव सावज्जं जोगं
परस्सट्ठाए निट्ठियं ।
कीरमाणं ति वा नच्चा
सावज्जं न लवे मुणी ॥ (७।४०)

२९८—सुकडे त्ति सुपक्के त्ति
सुछिन्ने सुहडे मडे ।
सुनिट्ठिए सुलट्ठे त्ति
सावज्जं वज्जए मुणी ॥ (७।४१)

२९९—पयत्त-पक्के त्ति व पक्कमालवे
पयत्त-छिन्न त्ति व छिन्नमालवे ।
पयत्त-लट्ठ त्ति व कम्महेउयं
पहार-गाढ त्ति व गाढमालवे ॥ (७।४२)

३३ : कयविक्कय-भासा-वज्जण

३००—सव्वुक्कसं परग्घं वा
अउलं नत्थि एरिसं ।
अवक्कियमवत्तव्वं
अचियत्तं चेव नो वए ।। (७।४३)

३०१—सुक्कीयं वा सुविक्कीयं
अकेज्जं केज्जमेव वा ।
इमं गेण्ह इमं मुंच
पणियं नो वियागरे ।। (७।४५)

३३ : क्रय-विक्रय भाषा-वर्जन

२००—(क्रय-विक्रय के प्रसगों मे) यह वस्तु सर्वोत्कृष्ट है, यह बहुमूल्य है, यह तुलना रहित है, इसके समान दूसरी वस्तु कोई नही है, यह अभी विक्रेय नही है, यह अवर्णनीय है, यह अचिन्त्य है—इस प्रकार न कहे। (७।४३)

२०१—पण्य-वस्तु के बारे मे (यह माल) अच्छा खरीदा, (बहुत सस्ता आया), (यह माल) अच्छा बेचा (बहुत नफा हुआ), यह बेचने योग्य नही है, यह बेचने योग्य है, इस माल को ले (यह महगा होने वाला है), इस माल को बेच डाल (यह सस्ता होने वाला है)—इस प्रकार न कहे। (७।४५)

३०२—पंचासव परिन्नाया
तिगुत्ता छसु संजया ।
पंचनिग्गहणा धीरा
निग्गंथा उज्जुदंसिणो ॥ (३।११)

३०३—परीसहरिऊदंता
धुय-मोहा जिइंदिया ।
सव्व - दुक्खप्पहीणट्ठा
पक्कमंति महेसिणो ॥ (३।१३)

३०४—तवं चिमं संजम-जोगयं च
सज्झाय-जोगं च सया अहिट्ठए ।
सूरे व सेणाए समत्तमाउहे
अलमप्पणो होइ अलं परेसिं ॥ (८।६१)

३४ : निर्ग्रन्थ

२०२—पञ्च आश्रव का निरोध करने वाले, तीन गुप्तियों से गुप्त, छह प्रकार के जीवों के प्रति सयत, पाँचों इन्द्रियों का निग्रहण करने वाले धीर निर्ग्रन्थ ऋजुदर्शी होते हैं। (३।११)

२०३—परीषहरूपी रिपुओं का दमन करने वाले, धुत-मोह, जितेन्द्रिय महर्षि सर्व दुःखो के प्रहाण—नाश के लिए पराक्रम करते है। (३।१२)

२०४—जो तप, सयम-योग और स्वाध्याय-योग मे प्रवृत्त रहता है, वह अपनी और दूसरों की रक्षा करने मे उसी प्रकार समर्थ होता है, जिस प्रकार सेना से घिर जाने पर आयुधों से सुसज्जित वीर। (८।६१)

३०५—सज्झाय-सज्झाण-रयस्स ताइणो
अपाव-भावस्स तवे रयस्स ।
विसुज्झई जंसि मलं पुरेकडं
समीरियं रुप्प-मलं व जोइणा ॥(८।६२)

३०६—सुह - सायगस्स समणस्स
साया-उलगस्स निगाम-साइस्स ।
उच्छोलणापहोइस्स
दुलहा सुग्गइ तारिसगस्स ॥ (४।२६)

३०७—तवोगुण - पहाणस्स
उज्जुमइ खंति -संजम-रयस्स ।
परीसहे जिणंतस्स
सुलहा सुग्गइ तारिसगस्स ॥ (४।२७)

३०८—जे यावि चंडे मइ-इड्ढि-गारवे
पिसुणे नरे साहस हीण-पेसणे ।
अदिट्ठ-धम्मे विणए अकोविए
असंविभागी न हु तस्स मोक्खो ॥ (९।२।२२)

२०५—स्वाध्याय और सद्ध्यान मे रत, [illegible]
वाले और तप मे रत मुनि का पूर्व-सचित मल उसी प्रकार विशुद्ध होता है, जिस प्रकार अग्नि द्वारा तपाए हुए सोने का मल। (८।६२)

२०६—जो श्रमण सुख का रसिक, सात के लिए आकुल, अकाल मे सोने वाला और हाथ, पैर आदि को बार-बार धोने वाला होता है, उसके लिए सुगति दुर्लभ है। (४।२६)

२०७—जो श्रमण तपोगुण से प्रधान, ऋजुमति, क्षांति तथा सयम मे रत और परीषहों को जीतने वाला होता है, उसके लिए सुगति सुलभ है। (४।२७)

२०८—जो नर चण्ड है, जिसे बुद्धि और ऋद्धि का गर्व है, जो पिशुन है, जो साहसिक है, जो गुरु की आज्ञा का यथासमय पालन नही करता, जो अदृष्ट (अज्ञात) धर्मा है, जो विनय मे अकोविद है, जो असंविभागी है, उसे मोक्ष प्राप्त नहीं होता। (९।२।२२)

३०९—दुक्कराइं करेत्ताणं
दुस्सहाइं सहेत्तु य।
केइत्थ देवलोएसु
केई सिज्झंति नीरया ॥ (३।१४)

३१०—खवित्ता पुव्व-कम्माइं
संजमेण तवेण य।
सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता
ताइणो परिनिव्वुडा ॥ (३।१५)

३११—से तारिसे दुक्ख-सहे जिइंदिए
सुएण जुत्ते अममे अकिंचणे।
विरायई कम्म-घणम्मि अवगए
कसिणब्भ-पुडावगमे व चंदिमा ॥(८।६३)

३१२—खवेंति अप्पाणममोह-दंसिणो
तवे रया संजम अज्जवे गुणे।
धुणंति पावाइं पुरे-कडाइं
नवाइ पावाइं न ते करेंति ॥ (६।६७)

३०९—दुष्कर को करते हुए और दुःसह को सहते हुए उन निर्ग्रन्थों मे से कई देवलोक जाते हैं और कई नीरज—कर्म-रहित हो सिद्ध होते हैं। (२।१४)

३१०—स्व और पर के त्राता निर्ग्रन्थ सयम और तप द्वारा पूर्व-संचित कर्मों का क्षयकर, सिद्धि-मार्ग को प्राप्तकर, परिनिर्वृत—मुक्त होते हैं। (२।१५)

३११—जो पूर्वोक्त गुणों से युक्त है, दुःखों को सहन करने वाला है, जितेन्द्रिय है, श्रुतवान् है, ममत्व-रहित और अकिंचन है, वह कर्मरूपी बादलों के दूर होने पर उसी प्रकार शोभित होता है, जिस प्रकार सम्पूर्ण अभ्रपटल से वियुक्त चन्द्रमा। (८।६३)

३१२—अमोहदर्शी, तप, सयम और ऋजुतारूप गुण मे रत मुनि शरीर को कृश कर देते हैं। वे पुराकृत पाप का नाश करते हैं और नए पाप नही करते। (६।६७)

३१३—सओवसंता अममा अकिंचणा
सविज्ज-विज्जाणुगया जसंसिणो ।
उउप्पसन्ने विमले व चंदिमा
सिद्धिं विमाणाइ उवेंति ताइणो ॥ (६।६८)

३१३—सदा उपशान्त, ममता-रहित, अकिंचन, आत्म विद्या के ज्ञान से युक्त, यशस्वी और त्राता मुनि शरद्-ऋतु के चन्द्रमा की तरह निर्मल होकर सिद्धि या सौधर्मा-वतसक आदि विमानो को प्राप्त करते हैं। (६।६८)

३५ : अणायार

३१४—संजमे सुट्ठिअप्पाणं
विप्पमुक्काण ताइणं ।
तेसिमेयमणाइण्णं
निग्गंथाण महेसिणं ॥(३।१)

३१५—उद्देसियं कीयगडं
नियागमभिहडाणि य ।
राइभत्ते सिणाणे य
गंध-मल्ले य वीयणे ॥(३।२)

३५ : अनाचार

३१४—जो सयम मे सुस्थितात्मा है, जो विप्रमुक्त है, जो त्राता है—उन निर्ग्रन्थ महर्षियों के लिए ये (निम्न-लिखित) अनाचीर्ण है (अग्राह्य है, असेव्य हैं, अकरणीय है) । (३।१)

३१५—औद्देशिक—निर्ग्रन्थ के निमित्त बनाया गया ।

क्रीतकृत—निर्ग्रन्थ के निमित्त खरीदा गया ।

नित्याग्र—आदर-पूर्वक निमत्रित कर प्रतिदिन दिया जाने वाला आहार ।

अभिहृत—निर्ग्रन्थ के निमित्त दूर से सम्मुख लाया गया ।

रात्रि-भक्त—रात्रि-भोजन ।

स्नान—नहाना ।

गंध—गंध सूघना या गन्ध-द्रव्य का विलेपन करना ।

माल्य—माला पहनना ।

वीजन—पंखा झलना । (३।२)

३१६—सन्निही गिहिमत्ते य
रायपिंडे किमिच्छए ।
संबाहणा दंतपहोयणा य
संपुच्छणा देहपलोयणा य ॥ (३।३)

३१७—अट्ठावए य नालीय
छत्तस्स य धारणट्ठाए ।
तेगिच्छं पाणहा पाए
समारंभं च जोइणो ॥ (३।४)

३१८—सेज्जायरपिंडं च
आसंदी पलियंकए ।
गिहंतरनिस्सेज्जा य
गायस्सुव्वट्टणाणि य ॥ (३।५)

३१६—सन्निधि—खाद्य-वस्तु का संग्रह करना—रात-वासी रखना।

गृहि-अमत्र—गृहस्थ के पात्र मे भोजन करना।

राजपिण्ड—मूर्धाभिषिक्त राजा के घर से भिक्षा लेना।

किमिच्छक—कौन क्या चाहता है? यों पूछकर दिया जाने वाला राजकीय भोजन आदि लेना।

सबाधन—अङ्ग-मर्दन।

दत-प्रधावन—दाँत पखारना।

संप्रच्छन—गृहस्थ से कुशल पूछना (सप्रोञ्छन-शरीर के अवयवों को पोछना)।

देह-प्रलोकन—दर्पण आदि मे शरीर देखना। (३।३)

३१७—अष्टापद—शतरज खेलना।

नालिका—नलिका से पासा डालकर जुआ खेलना।

छत्र—विशेष प्रयोजन के बिना छत्र धारण करना।

चैकित्स्य—रोग का प्रतिकार करना, चिकित्सा करना।

उपानत्—पैरों मे जूते पहनना।

ज्योतिः-समारम्भ—अग्नि जलाना। (३।४)

३१८—शय्यातर-पिण्ड—स्थान—दाता के घर से भिक्षा लेना।

आसदी-पर्यंक— मचिका और पलग पर बैठना।

गृहान्तर-निषद्या—भिक्षा करते समय गृहस्थ के घर बैठना।

गात्र-उद्वर्त्तन—उबटन करना। (३।५)

३२२—धूमनेत्र—धूम्रपान की नलिका से धूम्रपान करना।
रोग की संभावना से बचने तथा बल-रूप आदि को बनाए रखने के लिए—
वमन—वमन करना।
वस्तिकर्म—अपान-मार्ग से तैल आदि चढाना।
विरेचन—विरेचन करना।
अजन—आँखों मे अञ्जन आजना।
दतवण—दांतों को दतौन से घिसना।
गात्र-अभ्यग—तैल-मर्दन करना।
विभूषण—शरीर को अलकृत करना। (३।६)

३२३—ऋषि के लिए जो आहार आदि चार (निम्न श्लोकोक्त) अकल्पनीय हैं, उनका वर्जन करता हुआ मुनि सयम का पालन करे। (६।४६)

३२४—मुनि अकल्पनीय पिण्ड, शय्या—वसति, वस्त्र और पात्र को ग्रहण करने की इच्छा न करे। किन्तु कल्पनीय ग्रहण करे। (६।४७)

३२२—धूव-णेत्ति वमणे य
वत्थीकम्म विरेयणे ।
अंजणे दंतवणे य
गायाभंग विभूसणे ॥ (३।६)

३२३—जाइं चत्तारिऽभोज्जाइं
इसिणा - हारमाईणि ।
ताइं तु विवज्जंतो
संजमं अणुपालए ॥ (६।४६)

३२४—पिंडं सेज्जं च वत्थं च
चउत्थं पायमेव य ।
अकप्पियं न इच्छेज्जा
पडिगाहेज्ज कप्पियं ॥ (६।४७)

३२२—धूमनेत्र—धूम्रपान की नलिका से धूम्रपान करना।

रोग की संभावना से बचने तथा बल-रूप आदि को बनाए रखने के लिए—

वमन—वमन करना।

वस्तिकर्म—अपान-मार्ग से तैल आदि चढाना।

विरेचन—विरेचन करना।

अजन—आँखो मे अञ्जन आजना।

दंतवण—दाँतों को दतौन से घिसना।

गात्र-अभ्यंग—तैल-मर्दन करना।

विभूषण—शरीर को अलकृत करना। (३।६)

३२३—ऋषि के लिए जो आहार आदि चार (निम्न श्लोकोक्त) अकल्पनीय हैं, उनका वर्जन करता हुआ मुनि सयम का पालन करे। (६।४६)

३२४—मुनि अकल्पनीय पिण्ड, शय्या—वसति, वस्त्र और पात्र को ग्रहण करने की इच्छा न करे। किन्तु कल्पनीय ग्रहण करे। (६।४७)

३६ : कीयमुद्देसिय आइ

३२५—जे नियागं ममायंति
कीयमुद्देसियाहडं ।
वहं ते समणुजाणंति
इइ वुत्तं महेसिणा ॥ (६।४८)

३२६—तम्हा असण-पाणाइं
कीयमुद्देसियाहडं ।
वज्जयंति ठियप्पाणो
निग्गंथा धम्म-जीविणो ॥ (६।४९)

३६ : औद्देशिक, क्रीतकृत आदि

३२५—जो नित्याग्र, क्रीत, औद्देशिक और आहृत आहार ग्रहण करते हैं, वे प्राणि-वध का अनुमोदन करते हैं—ऐसा महर्षि महावीर ने कहा है। (६।४८)

३२६—इसलिए धर्मजीवी, स्थितात्मा निर्ग्रन्थ क्रीत, औद्देशिक और आहृत अशन, पान आदि का वर्जन करते हैं। (६।४९)

३७ : राईभोयण-वज्जण

३२७—अहो निच्चं तवो-कम्मं
सव्व-बुद्धेहिं वण्णियं ।
जा य लज्जा-समा वित्ती
एग-भत्तं च भोयणं ।। (६।२२)

३२८—संतिमे सुहुमा पाणा
तसा अदुव थावरा ।
जाइं राओ अपासंतो
कहमेसणियं चरे ? ।। (६।२३)

३२९—उदउल्लं बीय-संसत्तं
पाणा-निवडिया महिं ।
दिया ताइं विवज्जेज्जा
राओ तत्थ कहं चरे ? ।। (६।२४)

३७ : रात्रिभोजन-वर्जन

३२७—आश्चर्य है कि सभी तीर्थंकरो ने श्रमणों के लिए नित्य तपः-कर्म—सयम के अनुकूल वृत्ति (देह-पालन) और एक बार भोजन करने का उपदेश दिया है। (६।२२)

३२८—जो त्रस और स्थावर सूक्ष्म प्राणी हैं, उन्हे रात्रि मे नही देखता हुआ निर्ग्रन्थ विधि-पूर्वक कैसे चल सकता है ? (६।२३)

३२९—उदक से आर्द्र और बीजयुक्त भोजन तथा जीवाकुल मार्ग दिन मे टाला जा सकता है पर रात मे उन्हे टालना शक्य नही, इसलिए निर्ग्रन्थ रात को वहाँ कैसे जा सकता है ? (६।२४)

३३०—एयं च दोषं दट्ठूणं
नायपुत्तेण भासियं।
सव्वाहारं न भुंजंति
निग्गंथा राइ-भोयणं ॥ (६।२५)

३३०—ज्ञातपुत्र महावीर ने इस हिंसात्मक दोष को देखकर कहा—जो निर्ग्रन्थ होते हैं, वे रात्रि-भोजन नही करते, चारों प्रकार के आहार मे से किसी भी प्रकार का आहार नही करते। (६।२५)

३८ : सिणाण-वज्जण

३३१—वाहिओ वा अरोगी वा
सिणाणं जो उ पत्थए।
वोक्कंतो होइ आयारो
जढो हवइ संजमो ॥ (६।६०)

३३२—संतिमे सुहुमा पाणा
घसासु भिलुगासु य।
जे उ भिक्खू सिणायंतो
वियडेणुप्पिलावए ॥ (६।६१)

३३३—तम्हा ते न सिणायंति
सीएण उसिणेण वा।
जावज्जीवं वयं घोरं
असिणाणमहिट्ठगा ॥ (६।६२)

३८ : स्नान-वर्जन

३३१—जो रोगी या निरोग साधु स्नान करने की अभिलाषा करता है, उसके आचार का उल्लघन होता है, उसका सयम परित्यक्त होता है। (६।६०)

३३२—यह वहुत स्पष्ट है कि पोली भूमि और दरार-युक्त भूमि मे सूक्ष्म प्राणी होते हैं। प्रासुक जल से स्नान करने वाला भिक्षु भी उन्हे जल से प्लावित करता है। (६।६१)

३३३—इसलिए मुनि शीत या ऊष्ण जल से स्नान नही करते। वे जीवन-पर्यन्त घोर अस्नान-व्रत का पालन करते हैं। (६।६२)

३३४—सिणाणं अदुवा कक्कं
लोद्धं पउमगाणि य।
गायस्सुव्वट्टणट्ठाए
नायरंति कयाइ वि॥ (६।६३)

३३४—मुनि ...
(सुगनि ...
प्रयोग ...

-वर्जन

दी, मच और आसालक
। पर बैठना या सोना

वाले निर्ग्रन्थ आसंदो,
तिलेखन किए विना उन
५४)

छिद्र वाले होते हैं।
कठिन होता है।
ा वर्जित किया

ेध है। निषेध
५४ वां

३६ : गिहिपाए-वज्जण

३३५—कंसेसु कंस - पाएसु
कुंड-पोएसु वा पुणो ।
भुंजंतो असण-पाणाइं
आयारा परिभस्सइ ॥ (६।५०)

३३६—सीओदग - समारंभे
मत्त - धोयण - छड्डणे ।
जाइं छन्नंति भूयाइं
दिट्ठो तत्थ असंजमो ॥ (६।५१)

३३७—पच्छाकम्मं पुरेकम्मं
सिया तत्थ न कप्पई ।
एयमट्ठं न भुंजंति
निग्गंथा गिहि-भायणे ॥ (६।५२)

३९ : गृहिपात्र-वर्जन

३३५—जो गृहस्थ के काँसे के प्याले, काँसे के पात्र और कुण्डमोद (काँसे के वने कुण्डे के आकार वाले वर्तन) मे अशन, पान आदि खाता है, वह श्रमण के आचार से भ्रष्ट होता है। (६।५०)

३३६—वर्तनों को सचित्त जल से धोने मे और वर्तनों के धोए हुए पानी को डालने मे प्राणियों की हिंसा होती है। तीर्थंकरों ने वहाँ असयम देखा है। (६।५१)

३३७—गृहस्थ के वर्तन मे भोजन करने से 'पश्चात्-कर्म' और 'पुरः-कर्म' की सम्भावना है। वह निर्ग्रन्थ के लिए कल्प्य नही है। एतदर्थ वे गृहस्थ के वर्तन मे भोजन नही करते। (६।५२)

४० : आसंदी-वज्जण

३३८—आसंदी - पलियंकेसु
मंचमासालएसु वा ।
अणायरियमज्जाणं
आसइत्तु सइत्तु वा ॥ (६।५३)

३३९—नासंदी - पलियंकेसु
न निसेज्जा न पीढए ।
निग्गंथा पडिलेहाए
वुद्ध-वुत्तमहिट्ठगा ॥ (६।५४)

३४०—गंभीर - विजया एए
पाणा दुप्पडिलेहगा ।
आसंदी - पलियंका य
एयमट्ठं विवज्जिया ॥ (६।५५)

४० : आसंदी-वर्जन

३३८—आर्य मुनियों के लिए आसदी, मच और आसालक (अवष्टम्भ सहित आसन) पर बैठना या सोना अनाचीर्ण है। (६।५३)

३३९—जिन-वाणी का आचरण करने वाले निर्ग्रन्थ आसदी, पलग, आसन और पीढे का प्रतिलेखन किए बिना उन पर न बैठे और न सोए[1]। (६।५४)

३४०—आसदी, पर्यंक आदि गम्भीर-छिद्र वाले होते हैं। इनमे प्राणियों का प्रतिलेखन करना कठिन होता है। इसलिए उन पर बैठना या सोना वर्जित किया है। (६।५५)

१—साधारणतया आसदी आदि पर बैठने का निषेध है। निषेध का कारण ५५ वें श्लोक में बताया गया है। ५४ वाँ श्लोक अपवाद श्लोक है। इसमें बैठने का जो विधान है, वह विशेष परिस्थिति में ही है। स्थविर अगस्त्यसिंह के अनुसार यह श्लोक कुछ परम्पराओं में मान्य नहीं था।

४१ : निसेज्जा-वज्जण

३४१—गोयरग्ग - पविट्ठस्स
निसेज्जा जस्स कप्पई।
इमेरिसमणायारं
आवज्जइ अबोहियं ॥ (६।५६)

३४२—विवत्ती बंभचेरस्स
पाणाणं अवहे वहो।
वणीमग-पडिग्घाओ
पडिकोहो अगारिणं ॥ (६।५७)

३४३—अगुत्ती बंभचेरस्स
इत्थीओ यावि संकणं।
कुसील-वड्ढणं ठाणं
दूरओ परिवज्जए ॥ (६।५८)

४१ : निषद्या-वर्जन

३४१—भिक्षा के लिए प्रविष्ट जो मुनि गृहस्थ के घर में बैठता है, वह इस प्रकार के आगे कहे जाने वाले, अबोधि-कारक अनाचार को प्राप्त होता है। (६।५६)

३४२—गृहस्थ के घर मे बैठने से ब्रह्मचर्य की विपत्ति—विनाश, प्राणियों का अवधकाल मे वध, भिक्षाचारों के अन्तराय और घर वालों को क्रोध उत्पन्न होता है। (६।५७)

३४३—वहाँ ब्रह्मचर्य असुरक्षित होता है और [illegible] में शंका उत्पन्न होती है। यह (गृहस्थ-निषद्या) कुशील वर्धक स्थान है, इसलिए मुनि [illegible] वर्जन करे। (६।५८)

३४४—तिण्हमन्नयरागस्स
निसेज्जा जस्स कप्पई।
जराए अभिभूयस्स
वाहियस्स तवस्सिणो ॥ (६।५६)

३४८—जराग्रस्त, रोगी और तपस्वी—इन तीनों मे से कोई भी साधु गृहस्थ के घर मे बैठ सकता है। (६।५९)

४२ : गिही-वैयावच्च

३४५—न य केणइ उवाएणं
गिहिजोगं समायरे ॥ (८।२१)

३४६—गिहिणो वैयावडियं न कुज्जा
अभिवायणं वंदण पूयणं च ॥ (चू० २।९)

४२ : गृहि-वैयापृत्य

३४५—साध किसी उपाय से गृहस्थोचित कर्म का समाचरण न करे। (८।२१)

३४६—साधु गृहस्थ का वैयापृत्य न करे। अभिवादन, वंदन और पूजन न करे। (चू० २।९)

४३ : विभूसा-वज्जण

३४७—नगिणस्स वा वि मुंडस्स
दीह - रोम - नहंसिणो ।
मेहुणा उवसंतस्स
किं विभूसाए कारियं ? ॥ (६।६४)

३४८—विभूसा-वत्तियं भिक्खू
कम्मं बंधइ चिक्कणं ।
संसार-सायरे घोरे
जेणं पडइ दुरुत्तरे ॥ (६।६५)

३४९—विभूसा-वत्तियं चेयं
बुद्धा मन्नंति तारिसं ।
सावज्ज-बहुलं चेयं
नेयं ताईहिं सेवियं ॥ (६।६६)

४३ : विभूषा-वर्जन

२४७—नग्न, मुण्ड, दीर्घ-रोम और नख वाले तथा मैथुन से निवृत्त मुनि को विभूषा से क्या प्रयोजन है ? (६।६४)

२४८—विभूषा के द्वारा भिक्षु चिकने (दारुण) कर्म का बन्धन करता है। उससे वह दुस्तर ससार-सागर मे गिरता है। (६।६५)

२४९—विभूषा मे प्रवृत्त मन को तीर्थङ्कर विभूषा के तुल्य ही चिकने कर्म के बन्धन का हेतु मानते है। यह प्रचुर पाप युक्त है। यह छह काय के त्राता मुनियों द्वारा आसेवित नही है। (६।६६)

३५०—सव्वमेयमणाइण्णं
निग्गंथाण महेसिणं।
संजमम्मि य जुत्ताणं
लहुभूयविहारिणं ॥ (३।१०)

५५०—ये सब महर्षि निर्ग्रन्थों के लिए—जो संयम मे लीन और वायु की तरह मुक्त विहारी हैं—अनाचीर्ण है। (३।१०)

४४ : मुणी-चरिया

३५१—तम्हा आयार-परक्कमेण
संवर-समाहि - बहुलेणं ।
चरिया गुणा य नियमा य
होंति साहूण दट्ठव्वा ।। (चू० २।४)

३५२—अणिएय-वासो समुयाण-चरिया
अन्नाय-उंछं पइरिक्कया य ।
अप्पोवही कलह-विवज्जणा य
विहार-चरिया इसिणं पसत्था ।। (चू० २

३५३—आइण्ण-ओमाण-विवज्जणा य
ओसन्न-दिट्ठाहड-भत्त-पाणे ।
संसट्ठ-कप्पेण चरेज्ज भिक्खू
तज्जाय-संसट्ठ जई जएज्जा ।। (चू० २।६

४४ : मुनि-चर्या

३५१—इसलिए आचार मे पराक्रम करने वाले, सवर मे प्रभूत समाधि रखने वाले साधुओ को चर्या, गुणों तथा नियमो की ओर दृष्टिपात करना चाहिए। (चू० २।४)

३५२—अनिकेतवास (गृहवास का त्याग), समुदान चर्या (अनेक कुलों से भिक्षा लेना), अज्ञात कुलों मे भिक्षा लेना, एकान्तवास, उपकरणो की अल्पता और कलह का वर्जन—यह विहार-चर्या (जीवन-चर्या) ऋषियों के लिए प्रशस्त है। (चू० २।५)

३५३—आकीर्ण[1] और अवमान[2] नामक भोज का विवर्जन और प्रायः दृष्ट स्थान से लाए हुए भक्त-पान का ग्रहण ऋषियों के लिए प्रशस्त है। भिक्षु संसृष्ट हाथ और पात्र से भिक्षा ले। दाता जो वस्तु दे रहा है, उसी से संसृष्ट हाथ और पात्र से भिक्षा लेने का यत्न करे। (चू० २।६)

---

१. बहुत भीड़ वाला भोज।
२. निश्चित गणना से अधिक उपस्थिति वाला भोज।

३५४—अमज्ज-मंसासि अमच्छरीया
अभिक्खणं निव्विगइं गया य।
अभिक्खणं काउस्सग्गकारी
सज्झाय-जोगे पयओ हवेज्जा ॥ (चू० २।७)

३५५—आयावयंति गिम्हेसु
हेमंतेसु अवाउडा।
वासासु पडिसंलीणा
संजया सुसमाहिया ॥ (३।१२)

३५६—निद्दं च न बहुमन्नेज्जा
संपहासं विवज्जए।
मिहो-कहाहिं न रमे
सज्झायम्मि रओ सया ॥ (८।४१)

३५४—साधु मद्य और मांस का अभोजी, अमत्सरी, बार-बार विकृतियों को न खाने वाला, बार-बार कायोत्सर्ग करने वाला और स्वाध्याय के लिए विहित तपस्या में प्रयत्नशील हो। (चू० २।७)

३५५—सुसमाहित निर्ग्रन्थ ग्रीष्म में सूर्य की आतापना लेते हैं, हेमन्त में खुले बदन रहते हैं और वर्षा में प्रतिसंलीन होते हैं—एक स्थान में रहते हैं। (३।१२)

३५६—निद्रा को बहुमान न दे, अट्टहास का वर्जन करे, मैथुन की कथा में रमण न करे, सदा स्वाध्याय में रत रहे। (८।४१)

४५ : विणय-समाही

३५७—चउव्विहा खलु विणय-समाही भवइ तंजहा—

(१) अणुसासिज्जंतो सुस्सूसइ

(२) सम्मं संपडिवज्जइ

(३) वेयमाराहयइ

(४) न य भवइ अत्त-संपग्गहिए ॥

(९।४।सू० ४)

३५८—पेहेइ हियाणुसासणं
सुस्सूसइ तं च पुणो अहिट्ठए।
न य माण-मएण मज्जइ
विणय-समाही आययट्ठिए ॥

(९।४।सू० ४ श्लो० २)

२५ : विनय-समाधि

३५७—विनय-समाधि के चार प्रकार हैं, जैसे—

(१) शिष्य आचार्य के अनुशासन को सुनना चाहता है।

(२) अनुशासन को सम्यक् रूप से स्वीकार करता है।

(३) वेद (अनुशासन) की आराधना करता है।

(४) आत्मोत्कर्ष (गर्व) नहीं करता। (९।४।सू० ४)

३५९—मूलाओ खंध-प्पभवो दुमस्स
खंधाओ पच्छा समुवेंति साहा।
साहप्प-साहा विरुहंति पत्ता
तओ से पुप्फं च फलं रसो य॥ (९।२।१)

३६०—एवं धम्मस्स विणओ
मूलं परमो से मोक्खो।
जेण कित्तिं सुयं सिग्घं
निस्सेसं चाभिगच्छई॥ (९।२।२)

३६१—जे य चंडे मिए थद्धे
दुव्वाई नियडी सढे।
वुज्झइ से अविणीयप्पा
कट्ठं सोयगयं जहा॥ (९।२।३)

३६२—विणयं पि जो उवाएणं
चोइओ कुप्पई नरो।
दिव्वं सो सिरिमेज्जंति
दंडेण पडिसेहए॥ (९।२।४)

३५९—वृक्ष के मूल से स्कन्ध उत्पन्न होता है, स्कन्ध के पश्चात् शाखाएं आती है, शाखाओं मे से प्रशाखाएँ निकलती है। उसके पश्चात् पत्र, पुष्प, फल और रस होता है (६।२।१)

३६०—इसी प्रकार धर्म का मूल है 'विनय' और उसका परम (अन्तिम) फल है मोक्ष। विनय के द्वारा मुनि कीर्त्ति, श्लाघनीय-श्रुत और समस्त इष्ट तत्त्वो को प्राप्त होता है। (६।२।२)

३६१—जो चण्ड, अज्ञ (मृग), स्तब्ध, अप्रियवादी, मायावी और शठ है, वह अविनीतात्मा संसार-स्रोत मे वैसे ही प्रवाहित होता रहता है, जैसे नदी के स्रोत मे पड़ा हुआ काठ। (६।२।३)

३६२—विनय मे उपाय के द्वारा भी प्रेरित करने पर जो कुपित होता है, वह आती हुई दिव्य लक्ष्मी को डण्डे से रोकता है। (६।२।४)

३६३—जे आयरिय-उवज्झायाणं
सुस्सूसा - वयणंकरा ।
तेसिं सिक्खा पवड्ढंति
जल-सित्ता इव पायवा ॥ (६।२।१२)

३६४—अप्पणट्ठा परट्ठा वा
सिप्पा णेउणियाणि य ।
गिहिणो उवभोगट्ठा
इहलोगस्स कारणा ॥ (६।२।१३)

३६५—जेण बंधं वहं घोरं
परियावं च दारुणं ।
सिक्खमाणा नियच्छंति
जुत्ता ते ललिइंदिया ॥ (६।२।१४)

३६६—ते वि तं गुरुं पूयंति
तस्स सिप्पस्स कारणा ।
सक्कारेंति नमंसंति
तुट्ठा निद्देस-वत्तिणो ॥ (६।२।१५)

३६३—जो मुनि आचार्य और उपाध्याय की शुश्रूषा और आज्ञा-पालन करते है, उनकी शिक्षा उसी प्रकार बढती है, जैसे जल से सीचे हुए वृक्ष। (६।२।१२)

३६४—जो गृही अपने या दूसरों के लिए, लौकिक उपभोग के निमित्त शिल्प और नैपुण्य सीखते है, (६।२।१३)

३६५—वे शिल्प-ग्रहण करने मे लगे हुए पुरुष, ललितेन्द्रिय होते हुए भी शिक्षा-काल मे घोर बन्ध, वध और दारुण परिताप को प्राप्त होते हैं। (६।२।१४)

३६६—वे भी उस शिल्प के लिए उस गुरु की पूजा करते हैं, सत्कार करते है, नमस्कार करते है और सतुष्ट होकर उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। (६।२।१५)

३६७—किं पुण जे सुय-ग्गाही
अणंत - हिय - कामए ।
आयरिया जं वए भिक्खू
तम्हा तं नाइवत्तए ॥ (९।२।१६)

३६८—जस्संतिए धम्म-पयाइ सिक्खे
तस्संतिए वेणइयं पउंजे ।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ
कायग्गिरा भो मणसा य निच्चं ॥ (९।१।१२)

३६९—राइणिएसु विणयं पंउजे ॥ (८।४०)

३७०—विवत्ती अविणीयस्स
संपत्ती विणियस्स य ।
जस्सेयं दुहओ नायं
सिक्खं से अभिगच्छइ ॥ (९।२।२१)

३६७—जो आगम-ज्ञान को पाने मे तत्पर और अनन्त हित (मोक्ष) का इच्छुक है, उसका फिर कहना ही क्या ? इसलिए आचार्य जो कहे भिक्षु उसका उल्लघन न करे। (९।२।१६)

३६८—जिसके समीप धर्म-पदों की शिक्षा लेता है, उसके समीप विनय का प्रयोग करे। शिर को झुकाकर हाथों को जोड़कर (पञ्चाङ्ग वन्दन कर) काया, वाणी और मन से सदा सत्कार करे। (९।१।१२)

३६९—रात्निकों (आचार्य, उपाध्याय और दीक्षा-पर्याय मे ज्येष्ठ साधुओं) के प्रति विनय का प्रयोग करे। (८।४०)

३७०—अविनीत के विपत्ति और विनीत के सम्पत्ति होती है—ये दोनों जिसे ज्ञात है, वही शिक्षा को प्राप्त होता है। (९।२।२१)

३७१—निद्देस-वत्ती पुण जे गुरूणं
सुयत्थ-धम्मा विणयम्मि कोविया ।
तरित्तु ते ओहमिणं दुरुत्तरं
खवित्तु कम्मं गइमुत्तमं गय ॥ (६।२।२३)

३७१—और जो गुरु के आज्ञाकारी हैं, जो गीतार्थ हैं, जो विनय मे कोविद् है, वे इस दुस्तर ससार-समुद्र को तर कर कर्मों का क्षयकर उत्तम गति को प्राप्त होते है। (६।२।२३)

४६ : विणयाविणय

३७२—थंभा व कोहा व मय-प्पमाया
गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे।
सो चेव उ तस्स अभूइभावो
फलं व कीयस्स वहाय होइ ॥ (६।१।१)

३७३—जे यावि मंदि त्ति गुरुं विइत्ता
डहरे इमे अप्पसुए त्ति नच्चा।
हीलंति मिच्छं पडिवज्जमाणा
करेंति आसायण ते गुरूणं ॥ (६।१।२)

३७४—तहेव अविणीयप्पा
उववज्झा हया गया।
दीसंति दुहमेहंता
आभिओगमुवट्ठिया ॥ (६।२।५)

४६ : विनय और अविनय

३७२—जो मुनि गर्व, क्रोध, माया या प्रमादवश गुरु के समीप विनय की शिक्षा नही लेता, वही (विनय की अशिक्षा) उसके विनाश के लिए होती है, जैसे—कीचक (वांस) का फल उसके वध के लिए होता है। (६।१।१)

३७३—जो मुनि गुरु को—यह मंद है, यह अल्पवयस्क और अल्प-श्रुत है—ऐसा जानकर उसके उपदेश को मिथ्या मानते हुए उसकी अवहेलना करते हैं, वे गुरु की आशातना करते हैं। (६।१।२)

३७४—जो औपवाह्य (चढने योग्य) घोडे और हाथी अविनीत होते हैं, वे आभियोग्य (भार-वहन) के लिए वाध्य किए जाने पर दुःख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं। (६।२।५)

३७५—तहेव सुविणीयप्पा
उववज्झा हया गया ।
दीसंति सुहमेहंता
इड्ढिं पत्ता महायसा ॥ (९।२।६)

३७६—तहेव अविणीयप्पा
लोगंसि नर-नारिओ ।
दीसंति दुहमेहंता
छाया विगलितेंदिया ॥ (९।२।७)

३७७—दण्ड - सत्थ - परिजुण्णा
असब्भ वयणेहि य ।
कलुणा विवन्नछंदा
खुप्पिवासाए परिगया ॥ (९।२।८)

३७८—तहेव सुविणीयप्पा
लोगंसि नरनारिओ ।
दीसंति सुहमेहंता
इड्ढिं पत्ता महायसा ॥ (९।२।९)

३७५—जो औपवाह्य घोडे और हाथी सुविनीत होते है, वे ऋद्धि और महान् यश को पाकर सुख का अनुभव करते हुए देखे जाते है। (६।२।६)

३७६—लोक मे जो पुरुष और स्त्री अविनीत होते हैं, वे क्षत-विक्षत या दुर्बल, इन्द्रिय-विकल है। (६।२।७)

३७७—दण्ड और शस्त्र से जर्जर, असभ्य वचनों के द्वारा तिरस्कृत, करुण, परवश, भूख और प्यास से पीडित होकर दुःख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं। (६।२।८)

३७८—लोक मे जो पुरुष या स्त्री सुविनीत होते है, वे ऋद्धि और महान् यश को पाकर सुख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं। (६।२।९)

३७६—तहेव अविणीयप्पा
देवा जक्खा य गुज्झगा ।
दीसंति दुहमेहंता
आभिओगमुवट्ठिया ॥ (६।२।१०)

३८०—तहेव सुविणीयप्पा
देवा जक्खा य गुज्झगा ।
दीसंति सुहमेहंता
इड्ढिं पत्ता महायसा ॥ (६।२।११)

३८१—दुग्गओ वा पओएणं
चोइओ वहई रहं ।
एवं दुबुद्धि किच्चाणं
वुत्तो वुत्तो पकुव्वई ॥ (६।२।१६)

३७९—जो देव, यक्ष और गुह्यक (भवनवासी देव) अविनीत होते हैं, वे सेवा-काल मे दुःख का अनुभव करते हुए देखे जाते है (९।२।१०)

३८०—जो देव, यक्ष और गुह्यक सुविनीत होते हैं, वे ऋद्धि और महान् यश को पाकर सुख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं। (९।२।११)

३८१—जैसे दुष्ट बैल चाबुक आदि से प्रेरित होने पर रथ को वहन करता है, वैसे ही दुर्बुद्धि शिष्य आचार्य के बार-बार कहने पर कार्य करता है। (९।२।१९)

४७ : गुरु-पूया

३८२—पगईए मंदा वि भवंति एगे
डहरा वि य जे सुय-बुद्धोववेया ।
आयारमंता गुण-सुट्ठिअप्पा
जे हीलिया सिहिरिव भास कुज्जा ।। (६।१।३)

३८३—जे यावि नागं डहरं ति नच्चा
आसायए से अहियाय होइ ।
एवायरियं पि हु हीलयंतो
नियच्छई जाइपहं खु मंदे ।। (६।१।४)

३८४—आसीविसो यावि परं सुरुट्ठो
किं जीवनासाओ परं नु कुज्जा ।
आयरियपाया पुण अप्पसन्ना
अबोहि आसायण नत्थि मोक्खो ।।(६।१।५)

४७ : गुरु-पूजा

३८२—कई आचार्य स्वभाव से ही मद होते है और कई अल्प-वयस्क होते हुए भी श्रुत और बुद्धि से सम्पन्न होते हैं। आचारवान् और गुणो मे सुस्थितात्मा आचार्य अवमानित होने पर अग्नि की तरह गुण-राशि को भस्म कर डालते हैं। (६।१।३)

३८३—जो कोई—यह सर्प छोटा है—ऐसा जानकर उसकी आशातना (कदर्थना) करता है, वह (सर्प) उसके अहित के लिए होता है। इसी प्रकार अल्पवयस्क आचार्य की भी अवहेलना करने वाला मद ससार मे परिभ्रमण करता है। (६।१।४)

३८४—आशीविष सर्प अत्यन्त क्रुद्ध होने पर भी 'जीवन-नाश' से अधिक क्या (अहित) कर सकता है? परन्तु आचार्यपाद की अप्रसन्नता अबोधि (सम्यक्त्व का नाश) कर देती है। अतः गुरु की आशातना से मोक्ष नही मिलता। (६।२।५)

३८५—जो पावगं जलियमवक्कमेज्जा
आसीविसं वा वि हु कोवएज्जा ।
जो वा विसं खायइ जीवियट्ठी
एसोवमासायणया गुरूणं ॥ (९।१।६)

३८६—सिया हु से पावय नो डहेज्जा
आसीविसो वा कुविओ न भक्खे ।
सिया विसं हालहलं न मारे
न यावि मोक्खो गुरुहीलणाए ॥ (९।१।७)

३८७—जो पव्वयं सिरसा भेत्तुमिच्छे
सुत्तं व सीहं पडिबोहएज्जा ।
जो वा दए सत्ति-अग्गे पहारं
एसोवमासायणया गुरूणं ॥ (९।१।८)

३८८—सिया हु सीसेण गिरिं पि भिंदे
सिया हु सीहो कुविओ न भक्खे ।
सिया न भिंदेज्ज व सत्ति-अग्गं
न यावि मोक्खो गुरु-हीलणाए ॥ (९।१।९)

३८५—कोई जलती अग्नि को लांघता है, आशीविष सर्प को कुपित करता है और जीवित रहने की इच्छा से विष खाता है, गुरु की आशातना इनके समान है—ये जिस प्रकार हित के लिए नही होते, उसी प्रकार गुरु की आशातना हित के लिए नही होती। (६।१।६)

३८६—सम्भव है कदाचित् अग्नि न जलाए, सम्भव है आशी-विष सर्प कुपित होने पर भी न खाए और यह भी सम्भव है कि हलाहल विष भी न मारे, परन्तु गुरु की अवहेलना से मोक्ष सम्भव नही है। (६।१।७)

३८७—कोई शिर से पर्वत का भेदन करने की इच्छा करता है, सोए हुए सिह को जगाता है और भाले की नोक पर प्रहार करता है, गुरु की आशातना इनके समान है। (६।१।८)

३८८—सम्भव है सिर से पर्वत को भी भेद डाले, सम्भव है सिह कुपित होने पर भी न खाए और यह भी सम्भव है कि भाले की नोक भी भेदन न करे, पर गुरु की अव-हेलना से मोक्ष सम्भव नही है। (६।१।९)

३८९—आयरियपाया पुण अप्पसन्ना
अबोहि आसायण नत्थि मोक्खो ।
तम्हा अणाबाह-सुहाभिकंखी
गुरुप्पसायाभिमुहो रमेज्जा ॥(९।१।१०)

३९०—जहाहियग्गी जलणं नमंसे
नाणाहुईमंतपयाभिसित्तं ।
एवायरियं उवचिट्ठएज्जा
अणंतनाणोवगओ वि संतो ॥ (९।१।११)

३९१—जस्संतिए धम्म-पयाइ सिक्खे
तस्संतिए वेणइयं पउंजे ।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ
कायग्गिरा भो मणसा य निच्चं ॥(९।१।१२)

३९२—लज्जा दया संजम बंभचेरं
कल्लाणभागिस्स विसोहि-ठाणं ।
जे मे गुरू सययमणुसासयंति
ते हं गुरू सययं पूययामि ॥ (९।१।१३)

३८९—आचार्यपाद के अप्रसन्न होने पर बोधि-लाभ नहीं होता, गुरु की आशातना से मोक्ष नही मिलता। इसलिए अनाबाध सुख चाहने वाला मुनि गुरु की प्रसन्नता के अभिमुख होकर रमण करे। (६।१।१०)

३९०—जैसे आहिताग्नि (अग्निहोत्री) ब्राह्मण विविध आहुति और मंत्रपदो से अभिषिक्त अग्नि को नमस्कार करता है, वैसे ही शिष्य अनन्तज्ञान-सम्पन्न होते हुए भी आचार्य की विनय-पूर्वक सेवा करे। (६।१।११)

३९१—जिसके समीप धर्म-पदों की शिक्षा लेता है, उसके समीप विनय का प्रयोग करे। सिर को झुकाकर हाथो को जोडकर (पञ्चाङ्ग वन्दन कर) काया, वाणी और मन से सदा सत्कार करे। (६।१।१२)

३९२—लज्जा (अपवाद-भय) दया, सयम और ब्रह्मचर्य कल्याण-भागी साधु के लिए विशोधि-स्थल है। जो गुरु मुझे उनकी सतत शिक्षा देते है, उनकी मैं सतत पूजा करता हूँ। (६।१।१३)

३६३—जहा निसंते तवणच्चिमाली
पभासई केवलभारहं तु ।
एवायरिओ सुय-सील-बुद्धिए
विरायई सुरमज्झे व इंदो ॥ (६।१।१४)

३६४—जहा ससी कोमुइजोगजुत्तो
नक्खत्त-तारा-गण-परिवुडप्पा ।
खे सोहई विमले अब्भमुक्के
एवं गणी सोहइ भिक्खु-मज्झे ॥ (६।१।१५)

३६५—महागरा आयरिया महेसी
समाहि-जोगे सुय-सील-बुद्धिए ।
संपाविउकामे अणुत्तराइं
आराहए तोसए धम्म-कामी ॥ (६।१।१६)

३६६—सोच्चाण मेहावी सुभासियाइं
सुस्सूसए आयरियप्पमत्तो ।
आराहइत्ताण गुणे अणेगे
से पावई सिद्धिमणुत्तरं ॥ (६।१।१७)

३९३—जैसे दिन मे प्रदीप्त होता हुआ सूर्य सम्पूर्ण भरत-क्षेत्र को प्रकाशित करता है, वैसे ही श्रुत, शील और बुद्धि से सम्पन्न आचार्य विश्व को प्रकाशित करता है और जिस प्रकार देवताओं के बीच इन्द्र शोभित होता है, उसी प्रकार साधुओं के बीच आचार्य सुशोभित होता है। (६।१।१४)

३९४—जिस प्रकार मेघ-मुक्त विमल आकाश मे नक्षत्र और तारागण से परिवृत, कार्तिक-पूर्णिमा मे उदित चन्द्रमा शोभित होता है, उसी प्रकार भिक्षुओं के बीच गणी (आचार्य) शोभित होता है। (६।१।१५)

३९५—अनुत्तर-ज्ञान आदि गुणों की सम्प्राप्ति का इच्छुक मुनि धर्म का अर्थी होकर समाधि-योग, श्रुत, शील और बुद्धि के महान् आकर, मोक्ष की एषणा करने वाले आचार्य की आराधना करे और उन्हे प्रसन्न करे। (६।१।१६)

३९६—मेधावी मुनि इन सुभाषितों को सुनकर अप्रमत्त रहता हुआ आचार्य की शुश्रूषा करे। इस प्रकार वह अनेक गुणों की आराधना कर अनुत्तर-सिद्धि को प्राप्त करता है। (६।१।१७)

४८ : मुनि का कर्त्तव्य

३९७—महान् आत्मा के धनी आचार्य के वचन को सफल करे। उसे वाणी से ग्रहण कर कर्म से उसका आचरण करे। (८।३३)

३९८—जितेन्द्रिय मुनि हाथ, पैर और शरीर को संयमितकर आलीन (न अतिदूर और न अतिनिकट) और गुप्त (मन और वाणी से सयत) होकर गुरु के समीप बैठे। (८।४४)

३९९—आचार्यो के बराबर न बैठे, आगे और पीछे भी न बैठे। गुरु के समीप उनके ऊरु से अपना ऊरु सटाकर न बैठे। (८।४५)

४००—भिक्षु (आचार्य से) नीची शय्या करे, नीची गति करे, नीचे खडा रहे, नीचा आसन करे, नीचा होकर आचार्य के चरणों मे वन्दना करे और नीचा होकर अजलि करे—हाथ जोडे। (६।२।१७)

४०१—अपनी काया से तथा उपकरणों से एवं किसी दूसरे प्रकार से आचार्य का स्पर्श हो जाने पर शिष्य इस प्रकार कहे—'आप मेरा अपराध क्षमा करें, मैं फिर ऐसा नही करूँगा।' (६।२।१८)

४०२—काल, अभिप्राय और आराधन-विधि को हेतुओं से जानकर, उस-उस (तदनुकूल) उपाय के द्वारा उस-उस प्रयोजन का सम्प्रतिपादन करे—पूरा करे। (६।२।२०)

४६ : विवेग

४०३—असंकिलिट्ठेहिं समं वसेज्जा
मुणी चरित्तस्स जओ न हाणी ॥ (चू०२।६)

४०४—न या लभेज्जा निउणं सहायं
गुणाहियं वा गुणओ समं वा ।
एक्को वि पावाइं विवज्जयंतो
विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥ (चू०२।१०)

४०५—अन्नट्ठं पगडं लयणं
भएज्ज सयणासणं ।
उच्चार - भूमि - संपन्नं
इत्थी - पसु - विवज्जियं ॥ (८।५१)

४६ : विवेक

४०३—मुनि संक्लेश-रहित साधुओं के साथ रहे, जिससे कि चरित्र की हानि न हो। (चू० २।६)

४०४—यदि कदाचित् अपने से अधिक गुणी अथवा अपने समान गुण वाला निपुण साथी न मिले तो पाप-कर्मों का वर्जन करता हुआ काम-भोगो मे अनासक्त रह अकेला ही विहार करे। (चू० २।१०)

४०५—मुनि अन्यार्थ-प्रकृत (दूसरों के लिए बने हुए), मल-मूत्र की उत्सर्ग भूमि से युक्त, स्त्री और पशु से रहित गृह, शयन और आसन का सेवन करे। (८।५१)

४०६—संवच्छरं वावि परं पमाणं
बीयं च वासं न तहिं वसेज्जा ।
सुत्तस्स मग्गेण चरेज्ज भिक्खू
सुत्तस्स अत्थो जह आणवेइ ॥ (चू० २।११)

४०७—साणं सूइयं गाविं
दित्तं गोणं हयं गयं ।
संडिब्भं कलहं जुद्धं
दूरओ परिवज्जए ॥ (५।१।१२)

४०८—रन्नो गिहवईणं च
रहस्सारक्खियाण य ।
संकिलेसकरं ठाणं
दूरओ परिवज्जए ॥ (५।१।१६)

४०९—एलगं दारगं साणं
वच्छगं वावि कोट्ठए ।
उल्लंघिया न पविसे
विऊहित्ताण व संजए ॥ (५।१।२२)

४१०—समणं माहणं वा वि
किविणं वा वणीमगं।
उवसंकमंतं भत्तट्ठा
पाणट्ठाए व संजए॥ (५।२।१०)

४११—तं अइक्कमित्तु न पविसे
न चिट्ठे चक्खु-गोयरे।
एगंतमवक्क - मित्ता
तत्थ चिट्ठेज्ज संजए॥ (५।२।११)

४१२—वणीमगस्स वा तस्स
दायगस्सुभयस्स वा।
अप्पत्तियं सिया होज्जा
लहुत्तं पवयणस्स वा॥ (५।२।१२)

४१३—पडिसेहिए व दिन्ने वा
तओ तम्मि नियत्तिए।
उवसंकमेज्ज भत्तट्ठा
पाणट्ठाए व संजए॥ (५।२।१३)

४१०—श्रमण, ब्राह्मण, कृपण या वनीपक भक्त या पान के लिए उपसक्रमण कर रहा हो, (५।२।१०)

४११—उसको लाँघकर सयमी मुनि गृहस्थ के घर मे प्रवेश न करे। गृहस्वामी और श्रमण आदि की आँखों के सामने खड़ा भी न रहे। किन्तु एकान्त मे जाकर खडा हो जाए। (५।२।११)

४१२—भिक्षाचरों को लाँघकर घर मे प्रवेश करने पर वनीपक या गृह-स्वामी को अथवा दोनो को अप्रेम हो सकता है अथवा उससे प्रवचन की लघुता हो सकती है। (५।२।१२)

४१३—गृहस्वामी द्वारा प्रतिषेध करने या दान दे देने पर, वहाँ से उनके वापस चले जाने के पश्चात् सयमी मुनि भक्त-पान के लिए प्रवेश करे। (५।२।१३)

४१४—जत्थ पुप्फाइ बीयाइं
विप्पइण्णाइं कोट्ठए।
अहुणोवलित्तं उल्लं
दट्ठूणं परिवज्जए ॥ (५।१।२१)

४१५—नीयदुवारं तमसं
कोट्ठगं परिवज्जए।
अचक्खु-विसओ जत्थ
पाणा दुप्पडिलेहगा ॥ (५।१।२०)

४१४—जहाँ कोष्ठक मे या कोष्ठक-द्वार पर पुष्प, बीजादि विखरे हों, वहाँ मुनि न जाय। कोष्ठक को तत्काल का लोपा और गीला देखे तो मुनि उसका परिवर्जन करे। (५।१।२१)

४१५—जहाँ चक्षु का विषय न होने के कारण प्राणी न देखे जा सकें, वैसे निम्न-द्वार वाले तमःपूर्ण कोष्ठक का परिवर्जन करे। (५।१।२०)

५० : समयग्ग

४१६——कालेण निक्खमे भिक्खू
कालेण य पडिक्कमे ।
अकालं च विवज्जेत्ता
काले कालं समायरे ॥ (५।२।४)

४१७——अकाले चरसि भिक्खू
कालं न पडिलेहसि ।
अप्पाणं च किलामेसि
सन्निवेसं च गरिहसि ॥ (५।२।५)

५० : समयज्ञता

४१६—भिक्षु समय पर भिक्षा के लिए निकले और समय पर लौट आए। अकाल को वर्जकर जो कार्य जिस समय का हो, उसे उसी समय करे। (५।२।४)

४१७—भिक्षो! तुम अकाल मे जाते हो, काल की प्रतिलेखना नही करते। इसलिए तुम अपने आपको क्लान्त (खिन्न) करते हो और सन्निवेश (ग्राम) की निन्दा करते हो। (५।२।५)

५१ : समभाव

४१८—जे न वंदे न से कुप्पे
वंदिओ न समुक्कसे ।
एवमन्नेसमाणस्स
सामण्णमणुचिट्ठई ॥ (५।२।३०)

४१६—बहुं पर-घरे अत्थि
विविहं खाइम-साइमं ।
न तत्थ पंडिओ कुप्पे
इच्छा देज्ज परो न वा ॥ (५।२।२७)

४२०—सयणासण-वत्थं वा
भत्त-पाणं व संजए ।
अदेंतस्स न कुप्पेज्जा
पच्चक्खे वि य दीसओ ॥ (५।२।२८)

५१ : समभाव

४१८—जो वन्दना न करे उस पर कोप न करे, वन्दना करने पर उत्कर्ष न लाए। इस प्रकार (समुदानचर्या का) अन्वेषण करने वाले मुनि का श्रामण्य निर्वाध भाव से टिकता है। (५।२।३०)

४१९—गृहस्थ के घर मे नाना प्रकार का और प्रचुर खाद्य-स्वाद्य होता है, (किन्तु न देने पर) पण्डित-मुनि कोप न करे। (यों चिन्तन करे कि) इसकी अपनी इच्छा है, दे या न दे। (५।२।२७)

४२०—संयमी मुनि सामने दीख रहे, शयन, आसन, वस्त्र, भक्त या पान न देने वाले पर भी कोप न करे। (५।२।२८)

४२१—निट्ठाणं रसनिज्जूढं
भद्दगं पावगं ति वा।
पुट्ठो वा वि अपुट्ठो वा
लाभालाभं न निद्दिसे ॥ (८।२२)

४२२—अतिंतिणे अचवले
अप्पभासी मियासणे।
हवेज्ज उयरे दंते
थोवं लद्धुं न खिंसए ॥ (८।२६)

४२३—खुहं पिवासं दुस्सेज्जं
सीउण्हं अरई भयं।
अहियासे अव्वहिओ
देहे दुक्खं महाफलं ॥ (८।२७)

४२४—कण्णसोक्खेहिं सद्देहिं
पेमं नाभिनिवेसए।
दारुणं कक्कसं फासं
काएण अहियासए ॥ (८।२६)

४२१—किसी के पूछने पर या बिना पूछे यह सरस है, यह नीरस है, यह अच्छा है या बुरा है—ऐसा न कहे और सरस या नीरस आहार मिला या न मिला—यह भी न कहे। (८।२२)

४२२—आहार न मिलने या अरस आहार मिलने पर आक्रोश न करे, चपल न बने, अल्पभाषी, मितभोजी और उदर का दमन करने वाला हो। थोड़ा आहार पाकर दाता की निन्दा न करे। (८।२६)

४२३—क्षुधा, प्यास, दुःशय्या (विषम भूमि पर सोना) शीत, उष्ण, अरति और भय को अव्यथित चित्त से सहन करे। क्योंकि देह में उत्पन्न कष्ट को सहन करना महाफल का हेतु होता है। (८।२७)

४२४—कानों के लिए सुखकर शब्दों में प्रेम न करे, दारुण और कर्कश स्पर्श को काया से सहन करे। (८।२६)

४२१—निट्ठाणं रसनिज्जूढं
भद्दगं पावगं ति वा ।
पुट्ठो वा वि अपुट्ठो वा
लाभालाभं न निद्दिसे ॥ (८।२२)

४२२—अतिंतिणे अचवले
अप्पभासी मियासणे ।
हवेज्ज उयरे दंते
थोवं लद्धुं न खिंसए ॥ (८।२६)

४२३—खुहं पिवासं दुस्सेज्जं
सीउण्हं अरई भयं ।
अहियासे अव्वहिओ
देहे दुक्खं महाफलं ॥ (८।२७)

४२४—कण्णसोक्खेहिं सद्देहिं
पेमं नाभिनिवेसए ।
दारुणं कक्कसं फासं
काएण अहियासए ॥ (८।२६)

४२१—किसी के पूछने पर या बिना पूछे यह सरस है, यह नीरस है, यह अच्छा है या बुरा है—ऐसा न कहे और सरस या नीरस आहार मिला या न मिला—यह भी न कहे। (८।२२)

४२२—आहार न मिलने या अरस आहार मिलने पर आक्रोश न करे, चपल न बने, अल्पभाषी, मितभोजी और उदर का दमन करने वाला हो। थोड़ा आहार पाकर दाता की निन्दा न करे। (८।२९)

४२३—क्षुधा, प्यास, दुःशय्या (विषम भूमि पर सोना) शीत, उष्ण, अरति और भय को अव्यथित चित्त से सहन करे। क्योकि देह मे उत्पन्न कष्ट को सहन करना महाफल का हेतु होता है। (८।२७)

४२४—कानो के लिए सुखकर शब्दों मे प्रेम न करे, दारुण और कर्कश स्पर्श को काया से सहन करे। (८।२६)

४२५—न बाहिरं परिभवे
अत्ताणं न समुक्कसे।
सुय-लाभे न मज्जेज्जा
जच्चा तवस्सिबुद्धिए ॥ (८।३०)

४२५—दूसरे का तिरस्कार न करे। आत्मोत्कर्ष न करे। श्रुत, लाभ, जाति, तपस्विता और बुद्धि का मद न करे। (८।३०)

५२ : कसाया

४२६—कोहं माणं च मायं च
लोभं च पाववड्ढणं ।
वमे चत्तारि दोसे उ
इच्छंतो हियमप्पणो ॥ (८।३६)

४२७—कोहो य माणो य अणिग्गहीया
माया य लोभो य पवड्ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाया
सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥ (८।३९)

५२ : कषाय

४२६—क्रोध, मान, माया और लोभ—ये पाप को बढाने वाले हैं। आत्मा का हित चाहने वाला इन चारों दोषों को छोडे। (८।३६)

४२७—वश मे न किए हुए क्रोध और मान, बढते हुए माया और लोभ—ये चारो संक्लिष्ट-कषाय पुनर्जन्मरूपी वृक्ष की जडी का सिंचन करते हैं। (८।३९)

५३ : कोह

४२८—आसुरत्तं न गच्छेज्जा
सोच्चाणं जिण-सासणं । (८।२५)

४२९—कोहो पीइं पणासेइ । (८।३७)

४३०—उवसमेण हणे कोहं । (८।३८)

५३ : क्रोध

४२८—वह जिन-प्रवचन (तीर्थंकर की शिक्षा) को सुनकर क्रोध न करे। (८।२५)

४२९—क्रोध प्रीति का नाश करता है। (८।३७)

४३०—उपशम से क्रोध का हनन करे। (८।३८)

५४ : माण

४३१—माणो विणय-नासणो । (८।३७)

४३२—माणं मद्दवया जिणे । (८।३८)

५४ : मान

४३१—मान विनय का नाश करने वाला है। (८।३७)

४३२—मृदुता से मान को जीते। (८।३८)

५५ : माया

४३३—माया मित्ताणि नासेइ । (८।३७)

४३४—मायं चज्जवभावेण । (८।३८)

४३५—पूयणट्ठी जसो-कामी
माण-सम्माण-कामए ।
बहुं पसवई पावं
माया-सल्लं च कुव्वई ॥ (५।२।३५)

५५ : माया

४३३—माया मित्रों का विनाश करती है। (८।३७)

४३४—ऋजुभाव से माया को जीते। (८।३८)

४३५—वह पूजा का अर्थी, यश का कामी और मान-सम्मान की कामना करने वाला मुनि बहुत पाप का अर्जन करता है और माया-शल्य का आचरण करता है। (५।२।३५)

५६ : मायि

४३६—सिया एगइओ लध्दुं
लोभेण विणिगूहई।
मा मेयं दाइयं संतं
दट्ठूणं सयमायए ॥ (५।२।३१)

४३७—अत्तट्ठगुरुओ लुद्धो
बहुं पावं पकुव्वई।
दुत्तोसओ य से होइ
निव्वाणं च न गच्छई ॥ (५।२।३२)

४३८—सिया एगइओ लद्धुं
विविहं पाण-भोयणं।
भद्दगं भद्दगं भोच्चा
विवण्णं विरसमाहरे ॥ (५।२।३३)

५६ : मायावी

४३६—कदाचित् कोई एक मुनि सरस आहार पाकर उसे आचार्य आदि को दिखाने पर वह स्वयं ले न लें—इस लोभ से छिपा लेता है—(५।२।३१)

४३७—वह अपने स्वार्थ को प्रमुखता देने वाला और रस-लोलुप मुनि बहुत पाप करता है। वह जिस किसी वस्तु से संतुष्ट नही होता और निर्वाण को नही पाता। (५।२।३२)

४३८—कदाचित् कोई एक मुनि विविध प्रकार के पान और भोजन पाकर कही एकान्त मे बैठ श्रेष्ठ-श्रेष्ठ खा लेता है, विवर्ण और विरस को स्थान पर लाता है। (५।२।३३)

४३९—जाणंतु ता इमे समणा
आययट्ठी अयं मुणी।
संतुट्ठो सेवई पंतं
लूहवित्ती सुतोसओ ॥ (५।२।३४)

४४०—तव-तेणे वय-तेणे
रूव-तेणे य जे नरे।
आयार-भाव-तेणे य
कुव्वइ देव-किब्बिसं ॥ (५।२।४६)

४४१—लद्धूण वि देवत्तं
उववन्नो देव-किब्बिसे।
तत्था वि से न याणाइ
किं मे किच्चा इमं फलं ॥ (५।२।४७)

४४२—तत्तो वि से चइत्ताणं
लब्भिही एलमूययं।
नरयं तिरिक्ख-जोणिं वा
बोही जत्थ सुदुल्लहा ॥ (५।२।४८

४३९—ये श्रमण मुझे यों जाने कि यह मुनि बड़ा मोक्षार्थी है, संतुष्ट है, प्रान्त (असार) आहार का सेवन करता है, रूक्षवृत्ति और जिस किसी भी वस्तु से सन्तुष्ट होने वाला है। (५।२।३४)

४४०—जो मनुष्य तप का चोर, वाणी का चोर, रूप का चोर, आचार का चोर और भाव का चोर होता है, वह किल्बिषिक देव-योग्य-कर्म करता है। (५।२।४६)

४४१—किल्बिषिक—देव के रूप मे उपपन्न जीव देवत्व को पाकर भी वहाँ वह नही जानता कि यह मेरे किस कार्य का फल है। (५।२।४७)

४४२—वहाँ से च्युत होकर वह मनुष्य-गति मे आ एडमूकता (गूंगापन) अथवा नरक या तिर्यंचयोनि को पाएगा, जहाँ बोधि अत्यन्त दुर्लभ होती है। (५।२।४८)

४४३—एयं च दोसं दट्ठूणं
नायपुत्तेण भासियं ।
अणुमायं पि मेहावी
माया-मोसं विवज्जए ॥ (५।२।४९)

४४३—इस दोष को देखकर ज्ञातपुत्र ने कहा- मेधावी मुनि अणुमात्र भी मायामृषा न करे। (५।२।४६)

५७ : लोह

४४४—लोहो सव्व-विणासणो ॥ (८।३७)

४४५—लोभं संतोसओ जिणे ॥ (८।३८)

५७ : लोभ

४४४—लोभ सब (प्रीति, विनय और मैत्री) का नाश करने वाला है। (८।३७)

४४५—संतोष से लोभ को जीते। (८।३८)

५८ : सुरा-पाण-णिसेह

४४६—सुरं वा मेरगं वा वि
अन्नं वा मज्जगं रसं ।
ससक्खं न पिवे भिक्खू
जसं सारक्खमप्पणो ॥ (५।२।३६)

४४७—पिया एगइओ तेणो
न मे कोइ वियाणई ।
तस्स पस्सह दोसाइं
नियडिं च सुणेह मे ॥ (५।२।३७)

४४८—वड्ढई सोंडिया तस्स
माया-मोसं च भिक्खुणो ।
अयसो य अनिव्वाणं
सययं च असाहुया ॥ (५।२।३८)

५८ : सुरा-पान का निषेध

४४६—अपने संयम का सरक्षण करता हुआ भिक्षु सुरा, मेरक या अन्य किसी प्रकार का मादक रस आत्म-साक्षी से न पीए। (५।२।३६)

४४७—जो मुनि—मुझे कोई नही जानता (यों सोचता हुआ) एकान्त मे स्तेन-वृत्ति से मादक रस पीता है, उसके दोषो को देखो और मायाचरण को मुझ से सुनो। (५।२।३७)

४४८—उस भिक्षु के उन्मत्तता, माया-मृषा, अयश, अतृप्ति और सतत असाधुता—ये दोष वढते हैं। (५।२।३८)

४४९—निच्चुव्विग्गो जहा तेणो
अत्तकम्मेहि दुम्मई ।
तारिसो मरणंते वि
नाराहेइ संवरं ॥ (५।२।३९)

४५०—आयरिए नाराहेइ
समणे यावि तारिसो ।
निहत्था वि णं गरहंति
जेण जाणंति तारिसं ॥ (५।२।४०)

४५१—एवं तु अगुणप्पेही
गुणाणं च विवज्जओ ।
तारिसो मरणंते वि
नाराहेइ संवरं ॥ (५।२।४१)

४५२—तवं कुव्वइ मेहावी
पणीयं वज्जए रसं ।
मज्ज-प्पमाय-विरओ
तवस्सी अइउक्कसो ॥ (५।२।४२)

४४९—वह दुर्मत अपने दुष्कर्मों से चोर की भाँति सदा उद्विग्न रहता है। वैसा मुनि मरणान्त-काल मे भी सवर की आराधना नही कर पाता। (५।२।३९)

४५०—वह न तो आचार्य की आराधना कर पाता है और न श्रमणों की भी। गृहस्थ भी उसे मायाचारी मानते हैं, इसलिए उसकी गर्हा करते है। (५।२।४०)

४५१—इस प्रकार अगुणों की प्रेक्षा (आसेवना) करने वाला और गुणों को वर्जने वाला मुनि मरणान्त-काल मे भी सवर की आराधना नही कर पाता। (५।२।४१)

४५२—जो मेधावी तपस्वी तप करता है, प्रणीत-रस को वर्जता है, मद्य-प्रमाद से विरत होता है, गर्व नही करता—(५।२।४२)

४५३—तस्स पस्सह कल्लाणं
अणेग - साहु - पूइयं।
विउलं अत्थ-संजुत्तं
कित्तइस्सं सुणेह मे ॥ (५।२।४३)

४५४—एवं तु गुणप्पेही
अगुणाणं च विवज्जओ।
तारिसो मरणंते वि
आराहेइ संवरं ॥ (५।२।४४)

४५५—आयरिए आराहेइ
समणे यावि तारिसो।
गिहत्था वि णं पूयंति
जेण जाणंति तारिसं ॥ (५।२।४५)

४५३—उसके अनेक साधुओं द्वारा प्रशसित, विपुल और अर्थ-सयुक्त कल्याण को स्वयं देखो और मैं उसकी कीर्तना करूँगा। (५।२।४३)

४५४—इस प्रकार गुण की प्रेक्षा (आसेवना) करने वाला और अगुणो को वर्जने वाला, शुद्ध-भोजी मुनि मरणान्त-काल मे भी सवर की आराधना करता है। (५।२।४४)

४५५—वह आचार्य की आराधना करता है और श्रमणों की भी। गृहस्थ भी उसे शुद्ध-भोजी मानते हैं, इसलिए उसकी पूजा करते हैं। (५।२।४५)

५६ : विआस

४५६—जया जीवे अजीवे य
दो वि एए वियाणई।
तया गइं बहुविहं
सव्व-जीवाण जाणई ॥ (४।१४)

४५७—जया गइं बहुविहं
सव्व-जीवाण जाणई।
तया पुण्णं च पावं च
बंधं मोक्खं च जाणई ॥ (४।१५)

४५८—जया पुण्णं च पावं च
बंधं मोक्खं च जाणई।
तया निव्विदए भोए
जे दिव्वे जे य माणुसे ॥ (४।१६)

५६ : क्रमिक-विकास

४५६—जब मनुष्य जीव और अजीव—इन दोनों को जान लेता है तब वह सब जीवों की बहुविध गतियों को भी जान लेता है। (४।१४)

४५७—जब मनुष्य सब जीवों की बहुविध गतियों को जान लेता है, तब वह पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्ष को भी जान लेता है। (४।१५)

४५८—जब मनुष्य पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्ष को जान लेता है तब वह दैविक और मानुषिक भोगों से विरक्त हो जाता है। (४।१६)

४५९—जया निव्विदए भोए
जे दिव्वे जे य माणुसे ।
तया चयइ संजोगं
सब्भिंतर - बाहिरं ॥ (४।१७)

४६०—जया चयइ संजोगं
सब्भिंतर - बाहिरं ।
तया मुंडे भवित्ताणं
पव्वइए अणगारियं ॥ (४।१८)

४६१—जया मुंडे भवित्ताणं
पव्वइए अणगारियं ।
तया संवरमुक्किट्ठं
धम्मं फासे अणुत्तरं ॥ (४।१९)

४६२—जया संवरमुक्किट्ठं
धम्मं फासे अणुत्तरं ।
तया धुणइ कम्मरयं
अबोहि - कलुसं कडं ॥ (४।२०)

४५९—जब मनुष्य दैविक और मानुषिक भोगों से विरक्त हो जाता है तब वह आभ्यन्तर और बाह्य सयोग को त्याग देता है। (४।१७)

४६०—जब मनुष्य आभ्यन्तर और बाह्य सयोग को त्याग देता है तब वह मुण्ड होकर अनगार-वृत्ति को स्वीकार करता है। (४।१८)

४६१—जब मनुष्य मुंड होकर अनगार-वृत्ति को स्वीकार करता है तब वह उत्कृष्ट संवरात्मक अनुत्तर-धर्म का स्पर्श करता है। (४।१९)

४६२—जब मनुष्य उत्कृष्ट संवरात्मक अनुत्तर-धर्म का स्पर्श करता है तब वह अबोधि-कलुष द्वारा संचित कर्म-रज को प्रकम्पित कर देता है। (४।२०

४६३—जया धुणइ कम्मरयं
अबोहि - कलुसं कडं ।
तया सव्वत्तगं नाणं
दंसणं चाभिगच्छई ॥ (४।२१)

४६४—जया सव्वत्तगं नाणं
दंसणं चाभिगच्छई ।
तया लोगमलोगं च
जिणो जाणइ केवली ॥ (४।२२)

४६५—जया लोगमलोगं च
जिणो जाणइ केवली ।
तया जोगे निरुंभित्ता
सेलेसिं पडिवज्जई ॥ (४।२३)

४६६—जया जोगे निरुंभित्ता
सेलेसिं पडिवज्जई ।
तया कम्मं खवित्ताणं
सिद्धिं गच्छइ नीरओ ॥ (४।२४)

४६३—जब वह अबोधि-रूप पाप द्वारा सचित कर्म-रज को प्रकम्पित कर देता है तब वह सर्वत्र-गामी ज्ञान और दर्शन—केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है। (४।२१)

४६४—जब वह सर्वत्र-गामी ज्ञान और दर्शन—केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है तब वह जिन और केवली होकर लोक-अलोक को जान लेता है। (४।२२)

४६५—जब वह जिन और केवली होकर लोक-अलोक को जान लेता है तब वह योगो का निरोध कर शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है। (४।२३)

४६६—जब वह योग का निरोध कर शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है तब वह कर्मों का क्षय कर रज-मुक्त बन सिद्धि को प्राप्त करता है। (४।२४)

४६७—जया कम्मं खवित्ताणं
सिद्धिं गच्छइ नीरओ ।
तया लोग मत्थयत्थो
सिद्धो हवइ सासओ ॥ (४।२५)

४६७—जव वह कर्मों का क्षय कर रज-मुक्त वन सिद्धि को प्राप्त होता है तव वह लोक के मस्तक पर स्थित शाश्वत सिद्ध होता है। (४।२५)

६० : को भिक्खू ?

४६८—निक्खम्ममाणाए बुद्ध-वयणे
निच्चंचित्त-समाहिओ हवेज्जा ।
इत्थीण वसं न यावि गच्छे
वंतं नो पडियायई जे स भिक्खू ॥ (१०।१)

४६९—पुढविं न खणे न खणावए
सीओदगं न पिए न पियावए ।
अगणि-सत्थं जहा सुनिसियं
तं जले न जलावए जे स भिक्खू ॥ (१०।२)

४७०—अनिलेण न वीए न वीयावए
हरियाणि न छिंदे न छिंदावए ।
बीयाणि सया विवज्जयंतो
सच्चित्तं नाहारए जे स भिक्खू ॥ (१०।३)

६०—भिक्षु कौन ?

४६८—जो तीर्थंकर के उपदेश से निष्क्रमण कर निर्ग्रन्थ-प्रवचन मे सदा समाहित-चित्त होता है, जो स्त्रियों के अधीन नही होता, जो वान्त भोगों का पुनः पान (सेवन) नही करता, वह भिक्षु है। (१०।१)

४६९—जो पृथ्वी का खनन न करता है और न कराता है, जो शीतोदक न पीता है और न पिलाता है, शस्त्र की धारा के समान सुतीक्ष्ण अग्नि को न जलाता है और न जलवाता है, वह भिक्षु है। (१०।२)

४७०—जो पत्ते आदि मे हवा न करता है और न कराता है, जो हरित का छेदन न करता है और न कराता है, जो बीजो का सदा विवर्जन करता है (उनके सम्पर्श से दूर रहता है), जो सचित्त का आहार नही करता, वह भिक्षु है। (१०।३)

४७१—वहणं तस - थावराण होइ
पुढवि-तण-कट्ठं - निस्सियाणं ।
तम्हा उद्देसियं न भुंजे
नो वि पए न पयावए जे स भिक्खू ॥ (१०।४)

४७२—रोइय नायपुत्त - वयणे
अत्तसमे मन्नेज्ज छप्पि काए ।
पंच य फासे महव्वयाइं
पंचासव-संवरे जे स भिक्खू ॥ (१०।५)

४७३—चत्तारि वमे सया कसाए
धुवयोगी य हवेज्ज बुद्ध-वयणे ।
अहणे निज्जायरूव-रयए
गिहिजोगं परिवज्जए जे स भिक्खू ॥ (१०।६)

४७४—सम्मद्दिट्ठी सया अमूढे
अत्थि हु नाणे तवे संजमे य ।
तवसा धुणइ पुराण-पावगं
मण-वय-काय-सुसंवुडे जे स भिक्खू ॥ (१०।७)

४७१—भोजन बनाने मे पृथ्वी, तृण, और काष्ट के आश्रय में रहे हुए त्रस-स्थावर जीवों का वध होता है, अतः औद्देशिक (अपने निमित्त बना हुआ) नही खाता तथा स्वय न पकाता है और न दूसरों से पकवाता है, वह भिक्षु है। (१०१४)

४७२—जो ज्ञातपुत्र के वचन मे श्रद्धा रखकर छहों कायों (सभी जीवों) को आत्म-सम मानता है, जो पाँच महाव्रतों का पालन करता है, जो पाँच आस्रवों का सवरण करता है, वह भिक्षु है। (१०१५)

४७३—जो चार कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) का परित्याग करता है, जो निर्ग्रन्थ प्रवचन में ध्रुव-योगी है, जो अधन है, जो स्वर्ण और चांदी से रहित है, जो गृहियोग (क्रय-विक्रय आदि) का वर्जन करता है, वह भिक्षु है। (१०१६)

४७४—जो सम्यग्दर्शी है जो सदा अमूढ है जो [illegible] और संयम के अस्तित्व में आस्थावान है जो [illegible] द्वारा पुराने कर्मों को प्रकम्पित कर देता है जो मन वचन तथा काय से सुसंवृत है, वह भिक्षु है

४७५—तहेव असणं पाणगं वा
विविहं खाइम-साइमं लभित्ता।
होही अट्ठो सुए परे वा
तं न निहे न निहावए जे स भिक्खू॥(१०।

४७६—तहेव असणं पाणगं वा
विविहं खाइम-साइमं लभित्ता।
छंदिय साहम्मियाण भुंजे
भोच्चा सज्झायरए य जे स भिक्खू॥(१०।

४७७—न य वुग्गहियं कहं कहेज्जा
न य कुप्पे निहुइंदिए पसंते।
संजम - धुवजोग - जुत्ते
उवसंते अविहेडए जे स भिक्खू॥(१०।१

४७८—जो सहइ हु गामकंटए
अक्कोस - पहार - तज्जणाओ य।
भय - भेरव - सद्द - संपहासे
सम-सुह-दुक्ख-सहे य जे स भिक्खू॥(१०।१

४७५—पूर्वोक्त विधि से विविध अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य को प्राप्त कर—यह कल या परसों काम आएगा—इस विचार से जो न सन्निधि (सचय) करता है और न कराता है, वह भिक्षु है। (१०।८)

४७६—पूर्वोक्त प्रकार से विविध अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य को प्राप्त कर जो अपने साधर्मिकों को निमन्त्रित कर भोजन करता है, जो भोजन कर चुकने पर स्वाध्याय मे रत रहता है, वह भिक्षु है। (१०।९)

४७७—जो कलहकारी कथा नही करता, जो कोप नही करता, जिसकी इन्द्रियाँ अनुद्धत है, जो प्रशान्त है, जो सयम मे ध्रुव-योगी है, जो उपशान्त है, जो दूसरों को तिरस्कृत नही करता, वह भिक्षु है। (१०।१०)

४७८—जो काँटे के समान चुभने वाले इन्द्रिय-विषयों, आक्रोश-वचनों, प्रहारों, तर्जनाओं और वेताल आदि के अत्यन्त भयानक शब्द-युक्त अट्टहासों को सहन करता है तथा सुख और दुःख को समभाव पूर्वक सहन करता है, वह भिक्षु है। (१०।११)

४७९—पडिमं पडिवज्जिया मसाणे
नो भायए भय-भेरवाइं दिस्स ।
विविह-गुण-तवो-रए य निच्चं
न सरीरं चाभिकंखई जे स भिक्खू ॥(१०।१२)

४८०—असइं वोसट्ठ - चत्त - देहे
अक्कुट्ठे व हए व लूसिए वा ।
पुढवि समे मुणी हवेज्जा
अनियाणे अकोउहल्ले य जे स भिक्खू ॥
(१०।१३)

४८१—अभिभूय काएण परीसहाइं
समुद्धरे जाइपहाओ अप्पयं ।
विइ्त्तु जाई - मरणं महब्भयं
तवे रए सामणिए जे स भिक्खू ॥(१०।१४)

४७९—जो श्मशान मे प्रतिमा को ग्रहण कर अत्यन्त भयजनक दृश्यों को देखकर नही डरता, जो विविध गुणो और तपों मे रत होता है, जो शरीर की आकांक्षा नहीं करता, वह भिक्षु है। (१०।१२)

४८०—जो मुनि वार-वार देह का व्युत्सर्ग और त्याग करता है, जो आक्रोश देने, पीटने और काटने पर पृथ्वी के समान सर्वसह होता है, जो निदान नही करता, जो नाटक आदि देखने की इच्छा नही करता, वह भिक्षु है। (१०।१३)

४८१—जो शरीर से परीषहों को जीतकर (सहनकर) जाति-पथ (ससार) से अपना उद्धार कर लेता है, जो जन्म-मरण को महाभय जानकर श्रमण-सम्बन्धी तप मे रत रहता है, वह भिक्षु है। (१०।१४)

४८२—हत्थ-संजए पाय-संजए
वाय-संजए संजइंदिए।
अज्झप्परए सुसमाहियप्पा
सुत्तत्थं च वियाणई जे स भिक्खू॥
(१०।१५)

४८३—उवहिम्मि अमुच्छिए अगिद्धे
अन्नाय-उंछ, पुलनिप्पुलाए।
कय - विक्कय - सन्निहिओ विरए
सव्व संगावगए य जे स भिक्खू॥
(१०।१६)

४८४—अलोल भिक्खू न रसेसु गिद्धे
उंछं चरे जीविय नाभिकंखे।
इड्ढिं च सक्कारण पूयणं च
चए ठियप्पा अणिहे जे स भिक्खू॥
(१०।१७)

४८२—जो हाथों से सयत है, पैरो से सयत है, वाणी से सयत है, इद्रियो से सयत है, जो अध्यात्म मे रत है, जो भलीभाँति समाधिस्थ है, जो सूत्र और अर्थ को यथार्थ रूप से जानता है, वह भिक्षु है। (१०।१५)

४८३—जो मुनि वस्त्रादि उपधि मे मूर्छित नही है, जो अगृद्ध है, जो अज्ञात कुलों से भिक्षा की एषणा करने वाला है, जो सयम को असार करने वाले दोषो से रहित है, जो क्रय-विक्रय और सन्निधि से विरत है, जो सब प्रकार के सगो से रहित है, वह भिक्षु है। (१०।१६)

४८४—जो अलोलुप है, रसो मे गृद्ध नही है, जो उञ्छचारी है, जो असयम जीवन की आकाक्षा नही करता, जो ऋद्धि, सत्कार और पूजा की स्पृहा को त्यागता है, जो स्थितात्मा है, जो माया रहित है, वह भिक्षु है। (१०।१७)

४८५—न परं वएज्जासि अयं कुसीले
जेणऽन्नो कुप्पेज्ज न तं वएज्जा ।
जाणिय पत्तेयं पुण्ण - पावं
अत्ताणं न समुक्से जे स भिक्खू ॥
(१०।१८)

४८६—न जाइ-मत्ते न य रूव-मत्ते
न लाभ-मत्ते न सुएण-मत्ते ।
मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता
धम्म-ज्झाण-रए जे स भिक्खू ॥ (१०।१६)

४८७—पवेयए अज्ज-पयं महामुणी
धम्मे ठिओ ठावयई परं पि ।
निक्खम्म वज्जेज्ज कुसील-लिंगं
न यावि हस्सकुहए जे स भिक्खू ॥ (१०।२०)

४८५—प्रत्येक व्यक्ति के पुण्य-पाप पृथक्-पृथक् होते है, ऐसा जानकर जो दूसरे को 'यह कुशील है'—ऐसा नही कहता, जिससे दूसरा कुपित हो, ऐसी बात नही कहता, जो अपनी विशेषता पर उत्कर्ष नही लाता, वह भिक्षु है। (१०।१८)

४८६—जो जाति का मद नही करता, जो रूप का मद नही करता, जो लाभ का मद नही करता, जो श्रुत का मद नही करता, जो सब मदों को वर्जता हुआ धर्म-ध्यान मे रत रहता है, वह भिक्षु है। (१०।१९)

४८७—जो महामुनि आर्य-पद (धर्म-पद) का उपदेश करता है, जो स्वय धर्म मे स्थित होकर दूसरे को भी धर्म मे स्थित करता है, जो प्रव्रजित हो कुशील-लिंग का वर्जन करता है, जो दूसरों को हंसाने के लिए कुतूहलपूर्ण चेष्टा नही करता, वह भिक्षु है। (१०।२०)

४८८—तं देहवासं असुइं असासयं
सया चए निच्च हियट्ठियप्पा ।
छिंदित्तु जाई-मरणस्स बंधणं
उवेइ भिक्खू अपुणागमं गइं ॥ (१०।२१)

४८८—अपनी आत्मा को सदा शाश्वत हित मे सुस्थित रखने वाला भिक्षु इस अशुचि और अशाश्वत देहवास को सदा के लिए त्याग देता है और वह जन्म-मरण के बन्धन को छेदकर अपुनरागमन-गति (मोक्ष) को प्राप्त होता है। (१०।२१)

६१ : संजम-समाही-सुत्त

४८६—इह खलु भो ! पव्वइएणं, उप्पन्न-दुक्खेणं; संजमे अरइ समावन्न-चित्तेण ओहाणुप्पेहिणा अणोहाइएणं चेव, हयरस्सि - गयंकुस पोयपडागाभूयाइं इमाइं अट्ठारस ठाणाइं सम्मं संपडिलेहियव्वाइं भवंति । तंजहा—

१—ह भो ! दुस्समाए दुप्पजीवी ।

२—लहुस्सगा इत्तरिया गिहीण
कामभोगा ।

३—भुज्जो य साइ-बहुला मणुस्सा ।

६१ : संयम-समाधि के सूत्र

४८९—मुमुक्षुओ ! निर्ग्रन्थ-प्रवचन मे जो प्रव्रजित है किन्तु उसे मोहवश दुःख उत्पन्न हो गया है, सयम मे उसका चित्त अरति-युक्त हो गया, वह सयम को छोड गृहस्थाश्रम मे चला जाना चाहता है, उसे सयम छोडने से पूर्व इन अठारह स्थानों का भलीभांति आलोचन करना चाहिए। अस्थितात्मा के लिए इनका वही स्थान है जो अश्व के लिए लगाम, हाथी के लिए अकुश और पोत के लिए पतवार का है। अठारह स्थान इस प्रकार है :—

१—ओह ! इस दुष्षमा (दुःख बहुल पांचवे अर) मे लोग बडी कठिनाई से जीविका चलाते है।

२—गृहस्थों के काम-भोग स्वल्प-सार वाले और अल्प-कालिक है।

३—मनुष्य प्रायः बहुत मायावी होते है।

४—इमे य मे दुक्खे न चिरकालो
वट्ठाइ भविस्सइ ।

५—ओमजण पुरक्कारे ।

६—वंतस्स य पडियाइयणं ।

७—अहरगइवासोवसंपया ।

८—दुल्लभे खलु भो! गिहीणं धम्मे
गिहिवासमज्झे वसंताणं ।

९—आयंके से वहाय होइ ।

१०—संकप्पे से वहाय होइ ।

११—सोवक्केसे गिहवासे ।
निरुवक्केसे परियाए ।

१२—बंधे गिहवासे ।
मोक्खे परियाए ।

४—यह मेरा परीषह-जनित दुःख चिरकाल स्थायी नही होगा।

५—गृहवास मे नीच जनो का पुरस्कार-सत्कार करना होता है।

६—सयम को छोड़ घर मे जाने का अर्थ है, वमन को वापस पीना।

७—सयम को छोड गृहवास मे जाने का अर्थ है, नारकीय-जीवन का अगीकार।

८—ओह! गृहवास मे रहते हुए गृहियों के लिए धर्म का स्पर्श निश्चय ही दुर्लभ है।

९—वहाँ आतक (शीघ्रघाती शारीरिक रोग) वध के लिए होता है।

१०—वहाँ सकल्प (मानसिक रोग) वध के लिए होता है।

११—गृहवास क्लेश-सहित है और मुनि पर्याय क्लेश-रहित।

१२—गृहवास बन्धन है और मुनि-पर्याय मोक्ष।

१३—सावज्जे गिहवासे ।
अणवज्जे परियाए ।

१४—बहुसाहारणा गिहीणं कामभोगा ।

१५—पत्तेयं पुण्णपावं ।

१६—अणिच्चे खलु भो ! मणुयाण जीविए कुसग्ग-जलबिंदु-चंचले ।

१७—बहुं च खलु पावं कम्मं पगडं ।

१८—पावाणं च खलु भो ! कडाणं कम्माणं पुव्विं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कन्ताणं वेयइत्ता मोक्खो, नत्थि अवेयइत्ता, तवसा वा झोसइत्ता । अट्ठारसमं पयं भवइ । (चू० १।सू० १)

४६०—जया य चयई धम्मं
अणज्जो भोगकारणा ।
से तत्थ मुच्छिए बाले
आयइं नावबुज्झइ ॥ (चू० १।१)

१३—गृहवास सावद्य है और मुनि-पर्याय अनवद्य।

१४—गृहस्थो के काम-भोग वहुजन सामान्य हैं—सर्व-सुलभ है।

१५—पुण्य और पाप अपना-अपना होता है।

१६—ओह! मनुष्यो का जीवन अनित्य है, कुश के अग्र भाग पर स्थित जल-विन्दु के समान चचल है।

१७—ओह! मैंने इससे पूर्व वहुत ही पाप-कर्म किए हैं।

१८—ओह! दुश्चरित्र और दुष्ट-पराक्रम के द्वारा पूर्व-काल मे अर्जित किए हुए पाप कर्मों को भोग लेने पर ही मोक्ष होता है। उन्हे भोगे विना अथवा तप के द्वारा उनका क्षय किए विना मोक्ष नही होता। यह अठारहवाँ पद है। (चू० १।सू० १)

२०—अनार्य साधु जव भोग के लिए धर्म को छोडता है तव वह भोग मे मूर्च्छित अज्ञानी अपने भविष्य को नही समझता। (चू० १।१)

४६१—जया ओहाविओ होइ
इंदो वा पडिओ छमं।
सव्वधम्म परिब्भट्ठो
स पच्छा परितप्पइ॥ (चू० १।२)

४६२—जया य वंदिमो होइ
पच्छा होइ अवंदिमो।
देवया व चुया ठाणा
स पच्छा परितप्पइ॥ (चू० १।३)

४६३—जया य पूइमो होइ
पच्छा होइ अपूइमो।
राया व रज्जपब्भट्ठो
स पच्छा परितप्पइ॥ (चू० १।४)

४६४—जया य माणिमो होइ
पच्छा होइ अमाणिमो।
सेट्ठि व्व कब्बडे छूढो
स पच्छा परितप्पइ॥ (चू० १।५)

४९१—जब कोई साधु उत्प्रव्रजित होता है—गृहवास मे प्रवेश करता है—तब वह सब धर्मो से भ्रष्ट होकर वैसे ही परिताप करता है जैसे देवलोक के वैभव से च्युत होकर भूमितल पर गिरा हुआ इन्द्र। (चू०१।२)

४९२—प्रव्रजित काल मे साधु वदनीय होता है, वही जब उत्प्रव्रजित होकर अवन्दनीय हो जाता है, तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे अपने स्थान से च्युत देवता। (चू०१।३)

४९३—प्रव्रजित काल मे साधु पूज्य होता है, वही जब उत्प्रव्रजित होकर अपूज्य हो जाता है, तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे राज्य-भ्रष्ट राजा। (चू०१।४)

४९४—प्रव्रजित-काल मे साधु मान्य होता है, वही जब उत्प्रव्रजित होकर अमान्य हो जाता है, तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे कर्बट (छोटे से गांव) मे अवरुद्ध किया हुआ सेठी। (चू०१।५)

४६५—जया य थेरओ होइ
समइक्कंतजोव्वणो ।
मच्छो व्व गलं गिलित्ता
स पच्छा परितप्पइ ॥ (चू० १।६)

४६६—जया य कुकुडंबस्स
कुतत्तीहिं विहम्मइ ।
हत्थी व बंधणे बद्धो
स पच्छा परितप्पइ ॥ (चू० १।७)

४६७—पुत्तदारपरिकिण्णो
मोहसंताणसंतओ ।
पंकोसन्नो जहा नागो
स पच्छा परितप्पइ ॥ (चू० १।८)

४६८—अज्ज आहं गणी हुंतो
भावियप्पा बहुस्सुओ ।
जइ हं रमंतो परियाए
सामण्णे जिणदेसिए ॥ (चू० १।६)

४९५—यौवन के बीत जाने पर जब वह उत्प्रव्रजित साधु बूढा होता है, तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे कांटे को निगलने वाला मत्स्य। (चू० १।६)

४९६—वह उत्प्रव्रजित साधु जब कुटुम्ब की दुश्चिन्ताओ से प्रतिहत होता है तब वह वैसे ही परिताप करता है है जैसे बन्धन मे बधा हुआ हाथी। (चू० १।७)

४९७—पुत्र और स्त्री से घिरा हुआ और मोह की परम्परा से परिव्याप्त वह वैसे ही परिताप करता है जैसे पक मे फंसा हुआ हाथी। (चू० १।८)

४९८—आज मै भावितात्मा और बहुश्रुत गणी होता यदि जिनोपदिष्ट श्रमण-पर्याय (चारित्र) मे रमण करता। (चू० १।९)

४९९—देवलोगसमाणो उ
परियाओ महेसिणं।
रयाणं अरयाणं तु
महानिरय सारिसो॥ (चू० १।१०)

५००—अमरोवमं जाणिय सोक्खमुत्तमं
रयाण परियाए तहारयाणं।
निरओवमं जाणिय दुक्खमुत्तमं
रमेज्ज तम्हा परियाय पंडिए॥(चू० १।११)

५०१—धम्माउ भट्ठं सिरिओ ववेयं
जन्नग्गि विज्झायमिव प्पतेयं।
हीलंति णं दुव्विहियं कुसीला
दाढुद्धियं घोरविसं व नागं॥ (चू० १।१२)

५०२—इहेवधम्मो अयसो अकित्ती
दुन्नामधेज्जं च पिहुज्जणम्मि।
चुयस्स धम्माउ अहम्मसेविणो
संभिन्नवित्तस्स य हेट्ठओ गई॥(चू० १।१३)

४९९—सयम मे रत महर्षियों के लिए मुनि-पर्याय देवलोक के समान ही सुखद होता है और जो सयम मे रत नही होते उनके लिए वही (मुनि पर्याय) महानरक के समान दुःखद होता है। (चू० १।१०)

५००—सयम मे रत साधुओं का सुख देवों के समान उत्तम (उत्कृष्ट) जानकर तथा सयम मे रत न रहने वाले मुनियों का दुःख नरक के समान उत्तम (उत्कृष्ट) जानकर पण्डित मुनि सयम मे ही रमण करे। (चू० १।११)

५०१—जिसकी दाढे उखाड़ ली गई हो, उस घोर विषधर सर्प की साधारण लोग भी अवहेलना करते है। वैसे ही धर्म-भ्रष्ट, चारित्ररूपी श्री से रहित, बुझी हुई यज्ञाग्नि की भांति निस्तेज और दुर्विहित साधु की कुशील लोग भी निन्दा करते है। (चू० १।१२)

५०२—धर्म से च्युत, अधर्मसेवी और चारित्र का खण्डन करने वाला साधु इसी जीवन मे अधर्मी होता है, उसके अपयश और अकीर्ति होती है। साधारण लोगोंमे भी उसका दुर्नाम होता है तथा उसकी अधोगति होती है। (चू० १।१३)

५०३—भुंजित्तु भोगाइ पसज्झ चेयसा
तहाविहं कट्टु असंजमं बहुं ।
गइं च गच्छे अणभिज्झियं दुहं
बोही य से नो सुलभा पुणो-पुणो ॥(चू० १।१४)

५०४—इमस्स ता नेरइयस्स जंतुणो
दुहोवणीयस्स किलेसवत्तिणो ।
पलिओवमं झिज्जइ सागरोवमं
किमंग पुण मज्झ इमं मणो-दुहं ॥(चू० १।१५)

५०५—न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सई
असासया भोग-पिवास जंतुणो ।
न चे सरीरेण इमेणवेस्सई
अविस्सई जीवियपज्जवेण मे ॥(चू० १।१६)

५०६—जस्सेवमप्पा उ हवेज्ज निच्छिओ
चएज्ज देहं न उ धम्म-सासणं ।
तं तारिसं नो पयलेंति इंदिया
उवेंतवाया व सुदंसणं गिरिं ॥(चू० १।१७)

५०७—इच्चेव संपस्सिय बुद्धिमं नरो
आयं उवायं विविहं वियाणिया ।
काएण वाया अदु माणसेणं
तिगुत्तिगुत्तो जिण-वयणमहिट्ठिजासि ॥
(च० १।१८)

५०७—बुद्धिमान मनुष्य इस प्रकार सम्यक् आलोचना कर तथा विविध प्रकार के लाभ और उनके साधनों को जान कर त्रिगुप्तियों से गुप्त हो कर जिन-वाणी का आश्रय ले। (उ० ११९८)

६२ : पुज्जो को ?

५०८—आयरियं अग्गिमिवाहियग्गी
सुस्सूसमाणो पडिजागरेज्जा ।
आलोइयं इंगियमेव नच्चा
जो छन्दमाराहयइ स पुज्जो ॥ (९।३।१)

५०९—आयारमट्ठा विणयं पउंजे
सुस्सूसमाणो परिगिज्झ वक्कं ।
जहोवइट्ठं अभिकंखमाणो
गुरुं तु नासाययई स पुज्जो ॥ (९।३।२)

५१०—राइणिएसु विणयं पउंजे
डहरा वि य जे परियायजेट्ठा ।
नियत्तणे वट्टइ सच्चवाई
ओवायवं वक्ककरे स पुज्जो ॥ (९।३।३)

६२ : पूज्य कौन ?

५०८—जैसे अग्निहोत्री अग्नि की शुश्रूषा करता हुआ जागरूक रहता है, वैसे ही जो आचार्य की शुश्रूषा करता हुआ जागरूक रहता है, जो आचार्य के आलोकित और इगित को जानकर उसके अभिप्राय की आराधना करता है, वह पूज्य है। (६।३।१)

५०९—जो आचार के लिए विनय का प्रयोग करता हैं, जो आचार्य को सुनने की इच्छा रखता हुआ, उसके वाक्य को ग्रहण कर उपदेश के अनुकूल आचरण करता है, जो गुरु की आशातना नही करता, वह पूज्य है। (६।३।२)

५१०—जो अल्पवयस्क होने पर भी दीक्षा-काल मे ज्येष्ठ हैं—उन पूजनीय साधुओं के प्रति जो विनय का प्रयोग करता है, जो नम्र व्यवहार करता है, जो सत्यवादी है, जो गुरु के समीप रहने वाला है और जो गुरु की आज्ञा का पालन करता है, वह पूज्य है। (६।३।३)

५११—अन्नाय-उंछं चरई विसुद्धं
जवणट्ठया समुयाणं च निच्चं।
अलद्धुयं नो परिदेवएज्जा
लद्धुं न विकत्थयई स पुज्जो॥ (९।३।४)

५१२—संथार-सेज्जासण-भत्त-पाणे
अप्पिच्छया अइलाभे वि संते।
जो एवमप्पाणभितोसएज्जा
संतोस-पाहन्न-रए स पुज्जो॥ (९।३।५)

५१३—सक्का सहेउं आसाए कंटया
अओमया उच्छहया नरेणं।
अणासए जो उ सहेज्ज कंटए
वईमए कण्णसरे स पुज्जो॥ (९।३।६)

५१४—मुहुत्त-दुक्खाहु हवंति कंटया
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा।
वायादुरुत्ताणि दुरुद्धराणि
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि॥ (९।३।७)

५११—जो जीवन-यापन के लिए अपना परिचय न देते हुए विशुद्ध सामुदायिक उच्छ (भिक्षा) की सदा चर्या करता है, जो भिक्षा न मिलने पर विलखा नही होता, मिलने पर श्लाघा नहीं करता, वह पूज्य है। (९।३।४)

५१२—संस्तारक, शय्या, आसन, भक्त और पानी का अधिक लाभ होने पर भी जिसकी इच्छा अल्प होती है, जो आवश्यकता से अधिक नही लेता, जो इस प्रकार जिस किसी भी वस्तु से अपने आप को सन्तुष्ट कर लेता है, जो सन्तोष-प्रधान जीवन मे रत है, वह पूज्य है। (९।३।५)

५१३—पुरुष धन आदि की आशा से लोहमय कांटों को सहन कर लेता है परन्तु जो किसी प्रकार की आशा रखे बिना कानों मे पैठते हुए वचनरूपी कांटों को सहन करता है, वह पूज्य है। (९।३।६)

५१४—लोहमय कांटे अल्पकाल तक दुःखदायी होते हैं और वे भी शरीर से सहजतया निकाले जा सकते है किन्तु दुर्वचनरूपी कांटे सहजतया नही निकाले जा सकनेवाले, वैर की परम्परा को बढाने वाले और महाभयानक होते है। (९।३।७)

५१५—समावयंता वयणाभिधाया
कण्णंगया दुम्मणियं जणंति।
धम्मो त्ति किच्चा परमग्गसूरे
जिइंदिए जो सहई स पुज्जो ॥ (९।३।८)

५१६—अवण्णवायं च परम्मुहस्स
पच्चक्खओ पडिणीयं च भासं।
ओहारिणिं अप्पियकारिणिं च
भासं न भासेज्ज सया स पुज्जो ॥ (९।३।९)

५१७—अलोलुए अक्कुहए अमाई
अपिसुणे यावि अदीणवित्ती।
नो भावए नो वि य भावियप्पा
अकोउहल्ले य सया स पुज्जो ॥ (९।३।१०)

५१८—गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू
गिण्हाहि साहूगुण मुंचऽसाहू।
वियाणिया अप्पगमप्पएणं
जो राग-दोसेहिं समो स पुज्जो ॥ (९।३।११

५१५—सामने से आते हुए वचन के प्रहार कानों तक पहुँचकर दौर्मनस्य उत्पन्न करते है। जो शूर व्यक्तियों मे अग्रणी, जितेन्द्रिय पुरुष, 'सहना मेरा धर्म है'—यह मानकर उन्हे सहन करता है, वह पूज्य है। (६।३।८)

५१६—जो पीछे से अवर्णवाद नही बोलता, जो सामने विरोधी वचन नही कहता, जो निश्चयकारिणी और अप्रिय-कारिणी भाषा नही बोलता, वह पूज्य है। (६।३।९)

५१७—जो रसलोलुप नही होता, जो इन्द्रजाल आदि के चमत्कार प्रदर्शित नही करता, जो माया नही करता, जो चुगली नही करता, जो दीनभाव से याचना नही करता, जो दूसरों से आत्म-श्लाघा नही करवाता, जो स्वय भी आत्म-श्लाघा नही करता, जो कुतूहल नही करता, वह पूज्य है। (६।३।१०)

५१८—गुणों से साधु होता है और अगुणोंसे असाधु। इसलिए साधु-गुणो को ग्रहण कर और असाधु-गुणों को छोड। आत्मा को आत्मा से जानकर जो राग और द्वेष मे सम रहता है, वह पूज्य है। (६।३।११)

५१६—तहेव डहरं व महल्लगं वा
इत्थीपुमं पव्वइयं गिहिं वा।
नो हीलए नो वि य खिंसएज्जा
थंमं च कोहं च चए स पुज्जो ॥ (६।३।१२)

५२०—जे माणिया सययं माणयंति
जत्तेण कन्नं व निवेसयंति।
ते माणए माणरिहे तवस्सी
जिइंदिए सच्चरए स पुज्जो ॥ (६।३।१३)

५२१—तेसिं गुरूणं गुण-सागराणं
सोच्चाण मेहावि सुभासियाइं।
चरे मुणी पंचरए तिगुत्तो
चउक्कसायावगए स पुज्जो ॥ (६।३।१४)

५२२—गुरुमिह सययं पडियरिय मुणी
जिणमय-निउणे अभिगम-कुसले।
धुणिय रय-मलं पुरेकडं
भासुरमउलं गइं गय ॥ (६।३।१५)

५१९—बालक या वृद्ध, स्त्री या पुरुष, प्रव्रजित या गृहस्थ को दुश्चरित की याद दिलाकर जो लज्जित नही करता, उनकी निन्दा नही करता, जो गर्व और क्रोध का त्याग करता है, वह पूज्य है। (९।३।१२)

५२०—विनय-चर्या से आराधित होने पर जो आचार्य अपने शिष्यों को सतत सम्मानित करते है—श्रुत-ग्रहण के लिए प्रेरित करते है, पिता जैसे अपनी कन्या को यत्नपूर्वक योग्य कुल मे स्थापित करता है, वैसे ही जो आचार्य अपने शिष्यों को योग्य मार्ग में स्थापित करते है, उन माननीय तपस्वी, जितेन्द्रिय और सत्यरत आचार्य का जो सम्मान करता है, वह पूज्य है। (९।३।१३)

५२१—[illegible], माया [illegible] है, वह पूज्य है। [illegible]

५२२—[illegible]

६३ : सुही कहं ?

५२३—आयावयाही चय सोउमल्लं
कामे कमाही कमियं खु दुक्खं ।
छिन्दाहि दोसं विणएज्ज रागं
एवं सुही होहिसि संपराए ॥ (२।५)

६३ : सुखी कैसे हो ?

५२३—अपने को तपा। सुकुमारता का त्याग कर। काम-विषय-वासना का अतिक्रम कर। इससे दु ख अपने-आप अतिक्रात होगा। (सयम के प्रति) द्वेष-भाव को छिन्न कर (विषयों के प्रति) राग-भाग को दूर कर। ऐसा करने से तू ससार मे सुखी होगा। (२।५)

२७ : वायावाय-विवेग

२५१—पंचिंदियाण पाणाणं
एस इत्थी अयं पुमं ।
जाव णं न विजाणेज्जा
ताव जाइ त्ति आलवे ॥ (७।२१)

२५२—तहेव मणुस्सं पसुं
पक्खिं वा वि सरीसिवं ।
थुले पमेइले वज्झे
पाइमे त्ति य नो वए ॥ (७।२२)

५३—परिवुड्ढे ति णं बूया
बूया उवचिए त्ति य ।
संजाए पीणिए वा वि
महाकाए त्ति आलवे ॥ (७।२३)

२६ : संदिग्ध-भाषा-वर्जन

२८१—वह धीर पुरुष उस अनुज्ञात असत्यामृपा को भी न वोले, जो अपने आशय को 'यह अर्थ है या दूसरा'—इस प्रकार सदिग्ध वना देती है। (७।४)

२८२—अतीत, वर्तमान और अनागत काल के जिस अर्थ मे शका हो, उसे 'यह इस प्रकार ही है'—ऐसा न कहे। (७।६)

२८३—अतीत, वर्तमान और अनागत काल-सम्वन्धी जो अर्थ निःशकित हो (उसके वारे मे) 'यह इस प्रकार ही है'—ऐसा कहे। (७।१०)

२८४—तम्हा गच्छामो वक्खामो
अमुगं वा णं भविस्सई ।
अहं वा णं करिस्सामि
एसो वा णं करिस्सई ।। (७।६)

२८५—एवमाई उ जा भासा
एस-कालम्मि संकिया ।
संपयाईय - मट्ठे वा
तं पि धीरो विवज्जए ।। (७।७)

२८६—अईयम्मि य कालम्मी
पच्चुप्पन्नमणागए ।
जमट्ठं तु न जाणेज्जा
एवमेयं ति नो वए ।। (७।८)

२८४—इसलिए 'हम जायेंगे', कहेंगे, हमारा अमुक कार्य हो जाएगा, मैं यह करूंगा, अथवा यह (व्यक्ति) यह (कार्य) करेगा। (७।६)

२८५—ऐसी और इस प्रकार की दूसरी भापा जो भविष्य सम्वन्धी होने के कारण (सफलता की दृष्टि से) शकित हो अथवा वर्तमान और अतीत काल-सम्वन्धी अर्थ के वारे मे शकित हो, उसे भी धीर पुरुप न वोले। (७।७)

२८६—अतीत, वर्तमान और अनागत काल सम्वन्धी अर्थ को (सम्यक् प्रकार से) न जाने, उसे 'यह इस प्रकार ही है'—ऐसा न कहे। (७।८)

३० : फरुस-भासा-वज्जण

२८७—तहेव फरुसा भासा
गुरु - भूओवघाइणी ।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा
जओ पावस्स आगमो ॥ (७।११)

२८८—तहेव काणं काणे त्ति
पंडगं पंडगे त्ति वा ।
वाहियं वा वि रोगि त्ति
तेणं चोरे त्ति नो वए ॥ (७।१२)

२८९—एएणन्नेण वट्ठेण
परो जेणुवहम्मई ।
आयारभावदोसन्नू
न तं भासेज्ज पन्नवं ॥ (७।१३)

३० : कठोर भाषा-वर्जन

२८७—इसी प्रकार परुष और महान् भूतोपघात करने वाली सत्य-भाषा भी न बोले क्योकि इससे पाप-कर्म का बंध होता है। (७।११)

२८८—इसी प्रकार काने को काना, नपुसक को नपुसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर न कहे। (७।१२)

२८९—आचार (वचन-नियमन) सबधी भाव-दोष (चित्त के प्रद्वेष या प्रमाद) को जानने वाला प्रज्ञावान् पुरुष पूर्व श्लोकोक्त अथवा इसी अर्थ की दूसरी भाषा, जिससे दूसरे को चोट लगे, न बोले। (७।१३)

२६०—तहेव होले गोले त्ति
साणे वा वसुले त्ति य ।
दमए दुहए वा वि
नेवं भासेज्ज पन्नवं ॥ (७।१४)

२९०—इसी प्रकार प्रज्ञावान् मुनि रे होल !, रे गोल !, ओ कुत्ता !, ओ वृषल !, ओ द्रमक !, ओ दुर्भग !,—ऐसा न बोले। (७।१४)

३१ : ममत्त-भासा-वज्जण

२६१—अज्जिए पज्जिए वा वि
अम्मो माउस्सिय त्ति य ।
पिउस्सिए भाइणेज्ज त्ति
धूए नत्तुणिए त्ति य ॥ (७।१५)

२६२—हले हले त्ति अन्ने त्ति
भट्टे सामिणि गोमिणि ।
होले गोले वसुले त्ति
इत्थियं नेवमालवे ॥ (७।१६)

२६३—नामधिज्जेण णं बूया
इत्थीगोत्तेण वा पुणो ।
जहारिहमभिगिज्झ
आलवेज्ज लवेज्ज वा ॥ (७।१७)

३१ : ममतामयी भाषा-वर्जन

२६१—हे आर्यिके !, (हे दादी !, हे नानी !), हे प्रार्यिके !, (हे परदादी !, हे परनानी !), हे अम्ब ! (हे मा !), हे मोसी !, हे बुआ !, हे भानजी !, हे पुत्री !, हे पोती !, (७।१५)

२६२—हे हले !, हे हली !, हे अन्ने !, हे भट्टे !, हे स्वामिनि !, हे गोमिनि !, हे होले !, हे वृपले ! - इस प्रकार स्त्रियो को आमन्त्रित न करे। (७।१६)

२६३—किन्तु यथायोग्य (अवस्था, देश, ऐश्वर्य आदि की अपेक्षा से) गुण-दोप का विचार कर एक वार या वार-वार उन्हे उनके नाम या गोत्र से आमन्त्रित करे। (७।१७)

२९४—अज्जए पज्जए वा वि
बप्पो चुल्लपिउ त्ति य ।
माउला भाइणेज्ज त्ति
पुत्ते नत्तुणिय त्ति य ॥ (७।१८)

२९५—हे हो हले त्ति अन्ने त्ति
भट्टा सामिय गोमिए ।
होल गोल वसुले त्ति
पुरिसं नेवमालवे ॥ (७।१९)

२९६—नामधेज्जेण णं बूया
पुरिसगोत्तेण वा पुणो ।
जहारिहमभिगिज्झ
आलवेज्ज लवेज्ज वा ॥ (७।२०)

२९४—हे आर्यक !, (हे दादा !, हे नाना !), हे प्रार्यक !, (हे परदादा !, हे परनाना), हे पिता !, हे चाचा !, हे मामा !, हे भानजा !, हे पुत्र !, हे पोता ! (७।१८)

२९५—हे हल !, हे अन्न !, हे भट्ट !, हे स्वामिन् !, हे गोमिन् !, हे होल !, हे गोल !, हे वृषल !—इस प्रकार पुरुष को आमन्त्रित न करे। (७।१९)

२९६—किन्तु यथायोग्य (अवस्था, देश, ऐश्वर्य आदि की अपेक्षा से) गुण-दोष का विचार कर एक बार या बार-बार उन्हें उनके नाम या गोत्र से आमन्त्रित करे। (७।२०)

३२ : सावज्ज-भासा-वज्जण

२९७—तहेव सावज्जं जोगं
परस्सट्ठाए निट्ठियं ।
कीरमाणं ति वा नच्चा
सावज्जं न लवे मुणी ॥ (७।४०)

२९८—सुकडे त्ति सुपक्के त्ति
सुछिन्ने सुहडे मडे ।
सुनिट्ठिए सुलट्ठे त्ति
सावज्जं वज्जए मुणी ॥ (७।४१)

२९९—पयत्त-पक्के त्ति व पक्कमालवे
पयत्त-छिन्न त्ति व छिन्नमालवे ।
पयत्त-लट्ठ त्ति व कम्महेउयं
पहार-गाढ त्ति व गाढमालवे ॥ (७।४२)

३२ : सावद्य-भाषा-वर्जन

२९७—इस प्रकार दूसरे के लिए किए गए अथवा किए जा रहे सावद्य व्यापार को जानकर मुनि सावद्य वचन न बोले ! जैसे—(७।४०)

२९८—बहुत अच्छा किया है (भोजन आदि), बहुत अच्छा पकाया है (घेवर आदि), बहुत अच्छा छेदा है (पत्र-शाक आदि), बहुत अच्छा हरण किया है (शाक की तिक्तता आदि), बहुत अच्छा मरा है (दाल या सत्तू मे घी आदि), बहुत अच्छा रस निष्पन्न हुआ है, बहुत ही इष्ट है (चावल आदि)—मुनि इन सावद्य वचनों का प्रयोग न करे। (७।४१)

२९९—(प्रयोजनवश कहना हो तो) सुपक्व (पके हुए) को प्रयत्न-पक्व कहा जा सकता है। सुच्छिन्न (छेदे हुए) को प्रयत्नच्छिन्न कहा जा सकता है, कर्म-हेतुक (शिक्षा पूर्वक किए हुए) को प्रयत्न-लष्ट कहा जा सकता है। गाढ़ (गहरे घाव वाले) को प्रहार गाढ़ कहा जा सकता है। (७।४२)

३३ : कयविक्कय-भासा-वज्जण

३००—सव्वुक्कसं परग्घं वा
अउलं नत्थि एरिसं ।
अवक्कियमवत्तव्वं
अचियत्तं चेव नो वए ॥ (७।४३)

३०१—सुक्कीयं वा सुविक्कीयं
अकेज्जं केज्जमेव वा ।
इमं गेण्ह इमं मुंच
पणियं नो वियागरे ॥ (७।४५)

३३ : क्रय-विक्रय भाषा-वर्जन

२००—(क्रय-विक्रय के प्रसगो मे) यह वस्तु सर्वोत्कृष्ट है, यह वहुमूल्य है, यह तुलना रहित है, इसके समान दूसरी वस्तु कोई नही है, यह अभी विक्रेय नही है, यह अवर्णनीय है, यह अचिन्त्य है—इस प्रकार न कहे। (७।४३)

२०१—पण्य-वस्तु के वारे मे (यह माल) अच्छा खरीदा, (वहुत सस्ता आया), (यह माल) अच्छा वेचा (वहुत नफा हुआ), यह वेचने योग्य नही है, यह वेचने योग्य है, इस माल को ले (यह महगा होने वाला है), इस माल को वेच डाल (यह सस्ता होने वाला है)—इस प्रकार न कहे। (७।४५)

३४ : निग्गन्थ

३०२—पंचासव परिन्नाया
तिगुत्ता छसु संजया ।
पंचनिग्गहणा धीरा
निग्गंथा उज्जुदंसिणो ॥ (३।११)

३०३—परीसहरिऊदंता
धुय-मोहा जिइंदिया ।
सव्व - दुक्खप्पहीणट्ठा
पक्कमंति महेसिणो ॥ (३।१३)

३०४—तवं चिमं संजम-जोगयं च
सज्झाय-जोगं च सया अहिट्ठए ।
सूरे व सेणाए समत्तमाउहे
अलमप्पणो होइ अलं परेसिं ॥ (८।६१)

२६ : संदिग्ध-भाषा-वर्जन

२८१—वह धीर पुरुष उस अनुज्ञात असत्यामृषा को भी न बोले, जो अपने आशय को 'यह अर्थ है या दूसरा'—इस प्रकार संदिग्ध बना देती है। (७।४)

२८२—अतीत, वर्तमान और अनागत काल के जिस अर्थ में शंका हो, उसे 'यह इस प्रकार ही है'—ऐसा न कहे। (७।६)

२८३—अतीत, वर्तमान और अनागत काल-सम्बन्धी जो अर्थ निःशंकित हो (उसके बारे में) 'यह इस प्रकार ही है'—ऐसा कहे। (७।१०)

२८४—तम्हा गच्छामो वक्खामो
अमुगं वा णं भविस्सई ।
अहं वा णं करिस्सामि
एसो वा णं करिस्सई ॥ (७।६)

२८५—एवमाई उ जा भासा
एस-कालम्मि संकिया ।
संपयाईय - मट्ठे वा
तं पि धीरो विवज्जए ॥ (७।७)

२८६—अईयम्मि य कालम्मी
पच्चुप्पन्नमणागए ।
जमट्ठं तु न जाणेज्जा
एवमेयं ति नो वए ॥ (७।८)

२८४—इसलिए 'हम जायेंगे', कहेंगे, हमारा अमुक कार्य हो जाएगा, मैं यह करूंगा, अथवा यह (व्यक्ति) यह (कार्य) करेगा। (७।६)

२८५—ऐसी और इस प्रकार की दूसरी भाषा जो भविष्य सम्बन्धी होने के कारण (सफलता की दृष्टि से) शंकित हो अथवा वर्तमान और अतीत काल-सम्बन्धी अर्थ के बारे में शंकित हो, उसे भी धीर पुरुष न बोले। (७।७)

२८६—अतीत, वर्तमान और अनागत काल सम्बन्धी अर्थ को (सम्यक् प्रकार से) न जाने, उसे 'यह इस प्रकार ही है'—ऐसा न कहे। (७।८)

३० : कठोर भाषा-वर्जन

२८७—इसी प्रकार परुष और महान् भूतोपघात करने वाली सत्य-भाषा भी न बोले क्योंकि इससे पाप-कर्म का बंध होता है। (७।११)

२८८—इसी प्रकार काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर न कहे। (७।१२)

२६०—इसी प्रकार प्रज्ञावान् मुनि रे होल !, रे गोल !, ओ कुत्ता !, ओ वृषल !, ओ द्रमक !, ओ दुर्भग !,—ऐसा न बोले। (७।१४)

३१ : ममत्त-भासा-वज्जण

२६१—अज्जिए पज्जिए वा वि
अम्मो माउस्सिय त्ति य ।
पिउस्सिए भाइणेज्ज त्ति
धूए नत्तुणिए त्ति य ॥ (७।१५)

२६२—हले हले त्ति अन्ने त्ति
भट्टे सामिणि गोमिणि ।
होले गोले वसुले त्ति
इत्थियं नेवमालवे ॥ (७।१६)

२६३—नामधिज्जेण णं बूया
इत्थीगोत्तेण वा पुणो ।
जहारिहमभिगिज्झ
आलवेज्ज लवेज्ज वा ॥ (७।१७)

३१ : ममतामयी भाषा-वर्जन

३१ : ममत्त-भासा-वज्जण

२६१—अज्जिए पज्जिए वा वि
अम्मो माउस्सिय त्ति य ।
पिउस्सिए भाइणेज्ज त्ति
धूए नत्तुणिए त्ति य ॥ (७।१५)

२६२—हले हले त्ति अन्ने त्ति
भट्टे सामिणि गोमिणि ।
होले गोले वसुले त्ति
इत्थियं नेवमालवे ॥ (७।१६)

२६३—नामधिज्जेण णं बूया
इत्थीगोत्तेण वा पुणो ।
जहारिहमभिगिज्झ
आलवेज्ज लवेज्ज वा ॥ (७।१७)

२६४—अज्जए पज्जए वा वि
वप्पो चुल्लपिउ त्ति य ।
माउला भाइणेज्ज त्ति
पुत्ते नत्तुणिय त्ति य ॥ (७।१८)

२६५—हे हो हले त्ति अन्ने त्ति
भट्टा सामिय गोमिए ।
होल गोल वसुले त्ति
पुरिसं नेवमालवे ॥ (७।१९)

२६६—नामधेज्जेण णं बूया
पुरिसगोत्तेण वा पुणो ।
जहारिहमभिगिज्झ
आलवेज्ज लवेज्ज वा ॥ (७।२०)

३२ : सावज्ज-भासा-वज्जण

२९७—तहेव सावज्जं जोगं
परस्सट्ठाए निट्ठियं ।
कीरमाणं ति वा नच्चा
सावज्जं न लवे मुणी ॥ (७।४०)

२९८—सुकडे त्ति सुपक्के त्ति
सुछिन्ने सुहडे मडे ।
सुनिट्ठिए सुलट्ठे त्ति
सावज्जं वज्जए मुणी ॥ (७।४१)

२९९—पयत्त-पक्के त्ति व पक्कमालवे
पयत्त-छिन्न त्ति व छिन्नमालवे ।
पयत्त-लट्ठ त्ति व कम्महेउयं
पहार-गाढ त्ति व गाढमालवे ॥ (७।४२)

३३ : कयविक्कय-भासा-वज्जण

३००—सव्वुक्कसं परग्घं वा
अउलं नत्थि एरिसं ।
अवक्कियमवत्तव्वं
अचियत्तं चेव नो वए ॥ (७।४३)

३०१—सुक्कीयं वा सुविक्कीयं
अकेज्जं केज्जमेव वा ।
इमं गेण्ह इमं मुंच
पणियं नो वियागरे ॥ (७।४५)

३३ : क्रय-विक्रय भाषा-वर्जन

२००—(क्रय-विक्रय के प्रसगों मे) यह वस्तु सर्वोत्कृष्ट है, यह बहुमूल्य है, यह तुलना रहित है, इसके समान दूसरी वस्तु कोई नही है, यह अभी विक्रेय नही है, यह अवर्णनीय है, यह अचिन्त्य है—इस प्रकार न कहे। (७४३)

२०१—पण्य-वस्तु के बारे मे (यह माल) अच्छा खरीदा, (बहुत सस्ता आया), (यह माल) अच्छा बेचा (बहुत नफा हुआ), यह बेचने योग्य नही है, यह बेचने योग्य है, इस माल को ले (यह महगा होने वाला है), इस माल को बेच डाल (यह सस्ता होने वाला है)—इस प्रकार न कहे। (७४५)

३४ : निग्गन्थ

३०२—पंचासव परिन्नाया
तिगुत्ता छसु संजया ।
पंचनिग्गहणा धीरा
निग्गंथा उज्जुदंसिणो ॥ (३।११)

३०३—परीसहरिऊदंता
धुय-मोहा जिइंदिया ।
सव्व - दुक्खप्पहीणट्ठा
पक्कमंति महेसिणो ॥ (३।१३)

३०४—तवं चिमं संजम-जोगयं च
सज्भाय-जोगं च सया अहिट्ठए ।
सूरे व सेणाए समत्तमाउहे
अलमप्पणो होइ अलं परेसिं ॥ (८।६१)

३४ : निर्ग्रन्थ

३०२—पञ्च आश्रव का निरोध करने वाले, तीन गुप्तियों से गुप्त, छह प्रकार के जीवों के प्रति सयत, पांचों इन्द्रियों का निग्रहण करने वाले धीर निर्ग्रन्थ ऋजुदर्शी होते हैं। (३।११)

३०३—परीषहरूपी रिपुओं का दमन करने वाले, धुत-मोह, जितेन्द्रिय महर्षि सर्व दुःखो के प्रहाण—नाश के लिए पराक्रम करते है। (३।१३)

३०४—जो तप, सयम-योग और स्वाध्याय-योग मे प्रवृत्त रहता है, वह अपनी और दूसरों की रक्षा करने मे उसी प्रकार समर्थ होता है, जिस प्रकार सेना से घिर जाने पर आयुधों से सुसज्जित वीर। (८।६१)

३०५—सज्झाय-सज्झाण-रयस्स ताइणो
अपाव-भावस्स तवे रयस्स ।
विसुज्झई जंसि मलं पुरेकडं
समीरियं रुप्प-मलं व जोइणा ॥(८।६२)

३०६—सुह - सायगस्स समणस्स
साया-उलगस्स निगाम-साइस्स ।
उच्छोलणापहोइस्स
दुलहा सुग्गइ तारिसगस्स ॥ (४।२६)

३०७—तवोगुण - पहाणस्स
उज्जुमइ खंति -संजम-रयस्स ।
परीसहे जिणंतस्स
सुलहा सुग्गइ तारिसगस्स ॥ (४।२७)

३०८—जे यावि चंडे मइ-इड्ढि-गारवे
पिसुणे नरे साहस हीण-पेसणे ।
अदिट्ठ-धम्मे विणए अकोविए
असंविभागी न हु तस्स मोक्खो ॥ (९।२।२२)

वाले और तप मे रत मुनि का पूर्व-सचित मल उसी प्रकार विशुद्ध होता है, जिस प्रकार अग्नि द्वारा तपाए हुए सोने का मल। (८।६२)

२०६—जो श्रमण सुख का रसिक, सात के लिए आकुल, अकाल मे सोने वाला और हाथ, पैर आदि को बार-बार धोने वाला होता है, उसके लिए सुगति दुर्लभ है। (४।२६)

२०७—जो श्रमण तपोगुण से प्रधान, ऋजुमति, क्षांति तथा सयम मे रत और परीषहों को जीतने वाला होता है, उसके लिए सुगति सुलभ है। (४।२७)

२०८—जो नर चण्ड है, जिसे बुद्धि और ऋद्धि का गर्व है, जो पिशुन है, जो साहसिक है, जो गुरु की आज्ञा का यथासमय पालन नही करता, जो अदृष्ट (अज्ञात) धर्मा है, जो विनय मे अकोविद है, जो असंविभागी है, उसे मोक्ष प्राप्त नहीं होता। (९।२।२२)

३०९—दुक्कराइं करेत्ताणं
दुस्सहाइं सहेत्तु य।
केइत्थ देवलोएसु
केई सिज्झंति नीरया ॥ (३।१४)

३१०—खवित्ता पुव्व-कम्माइं
संजमेण तवेण य।
सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता
ताइणो परिनिव्वुडा ॥ (३।१५)

३११—सेतारिसे दुक्ख-सहे जिइंदिए
सुएण जुत्ते अममे अकिंचणे।
विरायई कम्म-घणम्मि अवगए
कसिणब्भ-पुडावगमे व चंदिमा ॥(८।६३)

३१२—खवेंति अप्पाणममोह-दंसिणो
तवे रया संजम अज्जवे गुणे।
धुणंति पावाइं पुरे-कडाइं
नवाइ पावाइं न ते करेंति ॥ (६।६७)

३०९—दुष्कर को करते हुए और दुःसह को सहते हुए उन निर्ग्रन्थों मे से कई देवलोक जाते हैं और कई नीरज—कर्म-रहित हो सिद्ध होते हैं। (३।१४)

३१०—स्व और पर के त्राता निर्ग्रन्थ सयम और तप द्वारा पूर्व-संचित कर्मों का क्षयकर, सिद्धि-मार्ग को प्राप्तकर, परिनिर्वृत—मुक्त होते हैं। (३।१५)

३११—जो पूर्वोक्त गुणों से युक्त है, दुःखों को सहन करने वाला है, जितेन्द्रिय है, श्रुतवान् है, ममत्व-रहित और अकिंचन है, वह कर्मरूपी बादलों के दूर होने पर उसी प्रकार शोभित होता है, जिस प्रकार सम्पूर्ण अभ्रपटल से वियुक्त चन्द्रमा। (८।६३)

३१२—अमोहदर्शी, तप, सयम और ऋजुतारूप गुण मे रत मुनि शरीर को कृश कर देते हैं। वे पुराकृत पाप का नाश करते हैं और नए पाप नही करते। (६।६७)

३१३—सओवसंता अममा अकिंचणा
सविज्ज-विज्जाणुगया जसंसिणो ।
उउप्पसन्ने विमले व चंदिमा
सिद्धिं विमाणाइ उवेंति ताइणो ॥ (६।६८)

३१३—सदा उपशान्त, ममता-रहित, अकिंचन, आत्म विद्या के ज्ञान से युक्त, यशस्वी और त्राता मुनि शरद्-ऋतु के चन्द्रमा की तरह निर्मल होकर सिद्धि या सौधर्मावतसक आदि विमानो को प्राप्त करते हैं। (६।६८)

३५ : अणायार

३१४—संजमे सुट्ठिअप्पाणं
विप्पमुक्काण ताइणं ।
तेसिमेयमणाइण्णं
निग्गंथाण महेसिणं ॥(३।१)

३१५—उद्देसियं कीयगडं
नियागमभिहडाणि य ।
राइभत्ते सिणाणे य
गंध-मल्ले य वीयणे ॥(३।२)

३५ : अनाचार

३१४—जो सयम मे सुस्थितात्मा है, जो विप्रमुक्त है, जो त्राता है—उन निर्ग्रन्थ महर्षियों के लिए ये (निम्न-लिखित) अनाचीर्ण है (अग्राह्य है, असेव्य हैं, अकरणीय है) । (३।१)

३१५—औद्देशिक—निर्ग्रन्थ के निमित्त बनाया गया ।

क्रीतकृत—निर्ग्रन्थ के निमित्त खरीदा गया ।

नित्याग्र—आदर-पूर्वक निमत्रित कर प्रतिदिन दिया जाने वाला आहार ।

अभिहृत—निर्ग्रन्थ के निमित्त दूर से सम्मुख लाया गया ।

रात्रि-भक्त—रात्रि-भोजन ।

स्नान—नहाना ।

गंध—गंध सूघना या गन्ध-द्रव्य का विलेपन करना ।

माल्य—माला पहनना ।

वीजन—पंखा झलना । (३।२)

३१६—सन्निही गिहिमत्ते य
रायपिंडे किमिच्छए ।
संबाहणा दंतपहोयणा य
संपुच्छणा देहपलोयणा य ॥ (३।३)

३१७—अट्ठावए य नालीय
छत्तस्स य धारणट्ठाए ।
तेगिच्छं पाणहा पाए
समारंभं च जोइणो ॥ (३।४)

३१८—सेज्जायरपिंडं च
आसंदी पलियंकए ।
गिहंतरनिस्सेज्जा य
गायस्सुव्वट्टणाणि य ॥ (३।५)

३१६—सन्निधि—खाद्य-वस्तु का संग्रह करना—रात-वासी रखना।

गृहि-अमत्र—गृहस्थ के पात्र मे भोजन करना।

राजपिण्ड—मूर्धाभिषिक्त राजा के घर से भिक्षा लेना।

किमिच्छक—कौन क्या चाहता है? यों पूछकर दिया जाने वाला राजकीय भोजन आदि लेना।

सबाधन—अङ्ग-मर्दन।

दत-प्रधावन—दाँत पखारना।

संप्रच्छन—गृहस्थ से कुशल पूछना (सप्रोञ्छन-शरीर के अवयवों को पोछना)।

देह-प्रलोकन—दर्पण आदि मे शरीर देखना। (३।३)

३१७—अष्टापद—शतरज खेलना।

नालिका—नलिका से पासा डालकर जुआ खेलना।

छत्र—विशेष प्रयोजन के बिना छत्र धारण करना।

चैकित्स्य—रोग का प्रतिकार करना, चिकित्सा करना।

उपानत्—पैरों मे जूते पहनना।

ज्योतिः-समारम्भ—अग्नि जलाना। (३।४)

३१८—शय्यातर-पिण्ड—स्थान—दाता के घर से भिक्षा लेना।

आसदी-पर्यंक— मचिका और पलग पर बैठना।

गृहान्तर-निषद्या—भिक्षा करते समय गृहस्थ के घर बैठना।

गात्र-उद्वर्त्तन—उबटन करना। (३।५)

३२२—धूमनेत्र—धूम्रपान की नलिका से धूम्रपान करना।
रोग की संभावना से बचने तथा बल-रूप आदि को बनाए रखने के लिए—
वमन—वमन करना।
वस्तिकर्म—अपान-मार्ग से तैल आदि चढाना।
विरेचन—विरेचन करना।
अजन—आँखों मे अञ्जन आजना।
दतवण—दाँतों को दतौन से घिसना।
गात्र-अभ्यग—तैल-मर्दन करना।
विभूषण—शरीर को अलकृत करना। (३।९)

३२३—ऋषि के लिए जो आहार आदि चार (निम्न श्लोकोक्त) अकल्पनीय हैं, उनका वर्जन करता हुआ मुनि सयम का पालन करे। (६।४६)

४—मुनि अकल्पनीय पिण्ड, शय्या—वसति, वस्त्र और पात्र को ग्रहण करने की इच्छा न करे। किन्तु कल्पनीय ग्रहण करे। (६।४७)

३२२—धूव-णेत्ति वमणे य
वत्थीकम्म विरेयणे ।
अंजणे दंतवणे य
गायाभंग विभूसणे ॥ (३।९)

३२३—जाइं चत्तारिऽभोज्जाइं
इसिणा - हारमाईणि ।
ताइं तु विवज्जंतो
संजमं अणुपालए ॥ (६।४६)

३२४—पिंडं सेज्जं च वत्थं च
चउत्थं पायमेव य ।
अकप्पियं न इच्छेज्जा
पडिगाहेज्ज कप्पियं ॥ (६।४७)

३२२—धूमनेत्र—धूम्रपान की नलिका से धूम्रपान करना।
रोग की संभावना से बचने तथा बल-रूप आदि को बनाए रखने के लिए—

वमन—वमन करना।

वस्तिकर्म—अपान-मार्ग से तैल आदि चढाना।

विरेचन—विरेचन करना।

अजन—आँखो मे अञ्जन आजना।

दंतवण—दाँतों को दतौन से घिसना।

गात्र-अभ्यंग—तैल-मर्दन करना।

विभूषण—शरीर को अलकृत करना। (३।९)

३२३—ऋषि के लिए जो आहार आदि चार (निम्न श्लोकोक्त) अकल्पनीय हैं, उनका वर्जन करता हुआ मुनि सयम का पालन करे। (६।४६)

३२४—मुनि अकल्पनीय पिण्ड, शय्या—वसति, वस्त्र और पात्र को ग्रहण करने की इच्छा न करे। किन्तु कल्पनीय ग्रहण करे। (६।४७)

३६ : कीयमुद्देसिय आइ

३२५—जे नियागं ममायंति
कीयमुद्देसियाहडं ।
वहं ते समणुजाणंति
इइ वुत्तं महेसिणा ॥ (६।४८)

३२६—तम्हा असण-पाणाइं
कीयमुद्देसियाहडं ।
वज्जयंति ठियप्पाणो
निग्गंथा धम्म-जीविणो ॥ (६।४९)

३६ : औद्देशिक, क्रीतकृत आदि

२५—जो नित्याग्र, क्रीत, औद्देशिक और आहृत आहार ग्रहण करते हैं, वे प्राणि-वध का अनुमोदन करते हैं—ऐसा महर्षि महावीर ने कहा है। (६।४८)

३७ : राईभोयण-वज्जण

३२७—अहो निच्चं तवो-कम्मं
सव्व-बुद्धेहिं वण्णियं ।
जा य लज्जा-समा वित्ती
एग-भत्तं च भोयणं ॥ (६।२२)

३२८—संतिमे सुहुमा पाणा
तसा अदुव थावरा ।
जाइं राओ अपासंतो
कहमेसणियं चरे ? ॥ (६।२३)

३२९—उदउल्लं बीय-संसत्तं
पाणा-निवडिया महिं ।
दिया ताइं विवज्जेज्जा
राओ तत्थ कहं चरे ? ॥ (६।२४)

३७ : रात्रिभोजन-वर्जन

३२७—आश्चर्य है कि सभी तीर्थंकरो ने श्रमणों के लिए नित्य तपः-कर्म—सयम के अनुकूल वृत्ति (देह-पालन) और एक बार भोजन करने का उपदेश दिया है। (६।२२)

३२८—जो त्रस और स्थावर सूक्ष्म प्राणी हैं, उन्हे रात्रि मे नही देखता हुआ निर्ग्रन्थ विधि-पूर्वक कैसे चल सकता है ? (६।२३)

३२९—उदक से आर्द्र और बीजयुक्त भोजन तथा जीवाकुल मार्ग दिन मे टाला जा सकता है पर रात मे उन्हे टालना शक्य नही, इसलिए निर्ग्रन्थ रात को वहाँ कैसे जा सकता है ? (६।२४)

३३०—एयं च दोषं दट्ठूणं
नायपुत्तेण भासियं।
सव्वाहारं न भुंजंति
निग्गंथा राइ-भोयणं ॥ (६।२५)

३३०—ज्ञातपुत्र महावीर ने इस हिंसात्मक दोष को देखकर कहा—जो निर्ग्रन्थ होते हैं, वे रात्रि-भोजन नही करते, चारों प्रकार के आहार मे से किसी भी प्रकार का आहार नही करते। (६।२५)

३८ : सिणाण-वज्जण

३३१—वाहिओ वा अरोगी वा
सिणाणं जो उ पत्थए।
वोक्कंतो होइ आयारो
जढो हवइ संजमो ॥ (६।६०)

३३२—संतिमे सुहुमा पाणा
घसासु भिलुगासु य।
जे उ भिक्खू सिणायंतो
वियडेणुप्पिलावए ॥ (६।६१)

३३३—तम्हा ते न सिणायंति
सीएण उसिणेण वा।
जावज्जीवं वयं घोरं
असिणाणमहिट्ठगा ॥ (६।६२)

३८ : स्नान-वर्जन

३३१—जो रोगी या निरोग साधु स्नान करने की अभिलाषा करता है, उसके आचार का उल्लघन होता है, उसका सयम परित्यक्त होता है। (६।६०)

३३२—यह वहुत स्पष्ट है कि पोली भूमि और दरार-युक्त भूमि मे सूक्ष्म प्राणी होते हैं। प्रासुक जल से स्नान करने वाला भिक्षु भी उन्हे जल से प्लावित करता है। (६।६१)

३३३—इसलिए मुनि शीत या ऊष्ण जल से स्नान नही करते। वे जीवन-पर्यन्त घोर अस्नान-व्रत का पालन करते हैं। (६।६२)

३३४—सिणाणं अदुवा कक्कं
लोद्धं पउमगाणि य।
गायस्सुव्वट्टणट्ठाए
नायरंति कयाइ वि ॥ (६।६३)

३६ : गिहिपाए-वज्जण

३३५—कंसेसु कंस - पाएसु
कुंड-मोएसु वा पुणो ।
भुंजंतो असण-पाणाइं
आयारा परिभस्सइ ॥ (६।५०)

३३६—सीओदग - समारंभे
मत्त - धोयण - छड्डणे ।
जाइं छन्नंति भूयाइं
दिट्ठो तत्थ असंजमो ॥ (६।५१)

३३७—पच्छाकम्मं पुरेकम्मं
सिया तत्थ न कप्पई ।
एयमट्ठं न भुंजंति
निग्गंथा गिहि-भायणे ॥ (६।५२)

३६ : गृहिपात्र-वर्जन

३३५—जो गृहस्थ के काँसे के प्याले, काँसे के पात्र और कुण्डमोद (काँसे के वने कुण्डे के आकार वाले वर्तन) मे अशन, पान आदि खाता है, वह श्रमण के आचार से भ्रष्ट होता है। (६।५०)

३३६—वर्तनों को सचित्त जल से धोने मे और वर्तनों के धोए हुए पानी को डालने मे प्राणियों की हिंसा होती है। तीर्थंकरों ने वहां असयम देखा है। (६।५१)

३३७—गृहस्थ के वर्तन मे भोजन करने से 'पश्चात्-कर्म' और 'पुरः-कर्म' की सम्भावना है। वह निर्ग्रन्थ के लिए कल्प्य नही है। एतदर्थ वे गृहस्थ के वर्तन मे भोजन नही करते। (६।५२)

४० : आसंदी-वज्जण

३३८—आसंदी - पलियंकेसु
मंचमासालएसु वा ।
अणायरियमज्जाणं
आसइत्तु सइत्तु वा ॥ (६।५३)

३३९—नासंदी - पलियंकेसु
न निसेज्जा न पीढए ।
निग्गंथा पडिलेहाए
वुद्ध-वुत्तमहिट्ठगा ॥ (६।५४)

३४०—गंभीर - विजया एए
पाणा दुप्पडिलेहगा ।
आसंदी - पलियंका य
एयमट्ठं विवज्जिया ॥ (६।५५)

४० : आसंदी-वर्जन

३३८—आर्य मुनियों के लिए आसदी, मच और आसालक (अवष्टम्भ सहित आसन) पर वैठना या सोना अनाचीर्ण है। (६।५३)

३३९—जिन-वाणी का आचरण करने वाले निर्ग्रन्थ आसदी, पलग, आसन और पीढे का प्रतिलेखन किए विना उन पर न वैठे और न सोए[1]। (६।५४)

३४०—आसदी, पर्यंक आदि गम्भीर-छिद्र वाले होते हैं। इनमे प्राणियों का प्रतिलेखन करना कठिन होता है। इसलिए उन पर वैठना या सोना वर्जित किया है। (६।५५)

१—साधारणतया आसदी आदि पर वैठने का निषेध है। निषेध का कारण ५५ वें श्लोक में वताया गया है। ५४ वाँ श्लोक अपवाद श्लोक है। इसमें वैठने का जो विधान है, वह विशेष परिस्थिति में ही है। स्थविर अगस्त्यसिंह के अनुसार यह श्लोक कुछ परम्पराओं में मान्य नहीं था।

४१ : निसेज्जा-वज्जण

३४१—गोयरग्ग - पविट्ठस्स
निसेज्जा जस्स कप्पई।
इमेरिसमणायारं
आवज्जइ अबोहियं ॥ (६।५६)

३४२—विवत्ती बंभचेरस्स
पाणाणं अवहे वहो।
वणीमग-पडिग्घाओ
पडिकोहो अगारिणं ॥ (६।५७)

३४३—अगुत्ती बंभचेरस्स
इत्थीओ यावि संकणं।
कुसील-वड्ढणं ठाणं
दूरओ परिवज्जए ॥ (६।५८)

४१ : निषद्या-वर्जन

३४१—भिक्षा के लिए प्रविष्ट जो मुनि गृहस्थ के घर में बैठता है, वह इस प्रकार के आगे कहे जाने वाले, अबोधि-कारक अनाचार को प्राप्त होता है। (६।५६)

३४२—गृहस्थ के घर मे बैठने से ब्रह्मचर्य की विपत्ति—विनाश, प्राणियों का अवधकाल मे वध, भिक्षाचारों के अन्तराय और घर वालों को क्रोध उत्पन्न होता है। (६।५७)

३४४—तिण्हमन्नयरागस्स
निसेज्जा जस्स कप्पई ।
जराए अभिभूयस्स
वाहियस्स तवस्सिणो ॥ (६।५६)

३४४—जराग्रस्त, रोगी और तपस्वी—इन तीनों मे से कोई भी साधु गृहस्थ के घर मे बैठ सकता है। (६।५९)

४२ : गिही-वैयावच्च

३४५—न य केणइ उवाएणं
गिहिजोगं समायरे ॥ (८।२१)

३४६—गिहिणो वैयावडियं न कुज्जा
अभिवायणं वंदण पूयणं च ॥ (चू० २।६)

४२ : गृहि-वैयापृत्य

३४५—साधु किसी उपाय से गृहस्थोचित कर्म का समाचरण न करे। (८।२१)

३४६—साधु गृहस्थ का वैयापृत्य न करे। अभिवादन, वंदन और पूजन न करे। (चू० २।९)

४३ : विभूसा-वज्जण

३४७—नगिणस्स वा वि मुंडस्स
दीह - रोम - नहंसिणो ।
मेहुणा उवसंतस्स
किं विभूसाए कारियं ? ॥ (६।६४)

३४८—विभूसा-वत्तियं भिक्खू
कम्मं बंधइ चिक्कणं ।
संसार-सायरे घोरे
जेणं पडइ दुरुत्तरे ॥ (६।६५)

३४९—विभूसा-वत्तियं चेयं
बुद्धा मन्नंति तारिसं ।
सावज्ज-बहुलं चेयं
नेयं ताईहिं सेवियं ॥ (६।६६)

४३ : विभूषा-वर्जन

३४७—नग्न, मुण्ड, दीर्घ-रोम और नख वाले तथा मैथुन से निवृत्त मुनि को विभूषा से क्या प्रयोजन है ? (६।६४)

३४८—विभूषा के द्वारा भिक्षु चिकने (दारुण) कर्म का बन्धन करता है। उससे वह दुस्तर ससार-सागर मे गिरता है। (६।६५)

३४९—विभूषा मे प्रवृत्त मन को तीर्थङ्कर विभूषा के तुल्य ही चिकने कर्म के बन्धन का हेतु मानते है। यह प्रचुर पाप युक्त है। यह छह काय के त्राता मुनियों द्वारा आसेवित नही है। (६।६६)

३५०—सव्वमेयमणाइण्णं
निग्गंथाण महेसिणं ।
संजमम्मि य जुत्ताणं
लहुभूयविहारिणं ॥ (३।१०)

६५०—ये सब महर्षि निर्ग्रन्थों के लिए—जो संयम मे लीन और वायु की तरह मुक्त विहारी हैं—अनाचीर्ण है। (३।१०)

४४ : मुणी-चरिया

३५१—तम्हा आयार-परक्कमेण
संवर-समाहि - बहुलेणं ।
चरिया गुणा य नियमा य
होंति साहूण दट्‌ठव्वा ॥ (चू० २।४)

३५२—अणिएय-वासो समुयाण-चरिया
अन्नाय-उंछं पइरिक्कया य ।
अप्पोवही कलह-विवज्जणा य
विहार-चरिया इसिणं पसत्था ॥ (चू० २।५

३५३—आइण्ण-ओमाण-विवज्जणा य
ओसन्न-दिट्‌ठाहड-भत्त-पाणे ।
संसट्‌ठ-कप्पेण चरेज्ज भिक्खू
तज्जाय-संसट्‌ठ जई जएज्जा ॥ (चू० २।६)

४४ : मुनि-चर्या

५.१—इसलिए आचार मे पराक्रम करने वाले, सवर मे प्रभूत समाधि रखने वाले साधुओ को चर्या, गुणों तथा नियमो की ओर दृष्टिपात करना चाहिए। (चू० २।४)

५२—अनिकेतवास (गृहवास का त्याग), समुदान चर्या (अनेक कुलों से भिक्षा लेना), अज्ञात कुलों मे भिक्षा लेना, एकान्तवास, उपकरणो की अल्पता और कलह का वर्जन—यह विहार-चर्या (जीवन-चर्या) ऋषियों के लिए प्रशस्त है। (चू० २।५)

५.३—आकीर्ण[1] और अवमान[2] नामक भोज का विवर्जन और प्रायः दृष्ट स्थान से लाए हुए भक्त-पान का ग्रहण ऋषियों के लिए प्रशस्त है। भिक्षु संसृष्ट हाथ और पात्र से भिक्षा ले। दाता जो वस्तु दे रहा है, उसी से संसृष्ट हाथ और पात्र से भिक्षा लेने का यत्न करे। (चू० २।६)

१. बहुत भीड वाला भोज।
२. निश्चित गणना से अधिक उपस्थिति वाला भोज।

३५४—अमज्ज-मंसासि अमच्छरीया
अभिक्खणं निव्विगइं गया य।
अभिक्खणं काउस्सग्गकारी
सज्झाय-जोगे पयओ हवेज्जा ॥ (चू० २।७)

३५५—आयावयंति गिम्हेसु
हेमंतेसु अवाउडा।
वासासु पडिसंलीणा
संजया सुसमाहिया ॥ (३।१२)

३५६—निद्दं च न वहुमन्नेज्जा
संपहासं विवज्जए।
मिहो-कहाहिं न रमे
सज्झायम्मि रओ सया ॥ (८।४१)

३५४—साधु मद्य और मांस का अभोजी, अमत्सरी, बार-बार विकृतियों को न खाने वाला, बार-बार कायोत्सर्ग करने वाला और स्वाध्याय के लिए विहित तपस्या में प्रयत्नशील हो। (चू० २।७)

३५५—सुसमाहित निर्ग्रन्थ ग्रीष्म में सूर्य की आतापना लेते हैं, हेमन्त में खुले बदन रहते हैं और वर्षा में प्रतिसंलीन होते हैं—एक स्थान में रहते हैं। (३।१२)

३५६—निद्रा को बहुमान न दे, अट्टहास का वर्जन करे, मैथुन की कथा में रमण न करे, सदा स्वाध्याय में रत रहे। (८।४१)

४५ : विणय-समाही

३५७—चउव्विहा खलु विणय-समाही भवइ तंजहा—

(१) अणुसासिज्जंतो सुस्सूसइ

(२) सम्मं संपडिवज्जइ

(३) वेयमाराहयइ

(४) न य भवइ अत्त-संपग्गहिए ॥

(६।४।सू० ४)

३५८—पेहेइ हियाणुसासणं
सुस्सूसइ तं च पुणो अहिट्ठए।
न य माण-मएण मज्जइ
विणय-समाही आययट्ठिए ॥

(६।४।सू० ४ श्लो० २)

४५ : विनय-समाधि

३५७—विनय-समाधि के चार प्रकार हैं, जैसे—

(१) शिष्य आचार्य के अनुशासन को सुनना चाहता है।

(२) अनुशासन का सम्यग् रूप से स्वीकार करता है।

(३) वेद (अनुशासन) की आराधना करता है।

(४) आत्मोत्कर्ष (गर्व) नहीं करता। (९।४।सू० ४)

३५९—मूलाओ खंध-प्पभवो दुमस्स
खंधाओ पच्छा समुवेंति साहा।
साहप्प-साहा विरुहंति पत्ता
तओ से पुप्फं च फलं रसो य ॥ (९।२।१)

३६०—एवं धम्मस्स विणओ
मूलं परमो से मोक्खो।
जेण कित्तिं सुयं सिग्घं
निस्सेसं चाभिगच्छई ॥ (९।२।२)

३६१—जे य चंडे मिए थद्धे
दुव्वाई नियडी सढे।
वुज्झइ से अविणीयप्पा
कट्ठं सोयगयं जहा ॥ (९।२।३)

३६२—विणयं पि जो उवाएणं
चोइओ कुप्पई नरो।
दिव्वं सो सिरिमेज्जंति
दंडेण पडिसेहए ॥ (९।२।४)

३५९—वृक्ष के मूल से स्कन्ध उत्पन्न होता है, स्कन्ध के पश्चात् शाखाएं आती है, शाखाओं मे से प्रशाखाएँ निकलती है। उसके पश्चात् पत्र, पुष्प, फल और रस होता है (९।२।१)

३६०—इसी प्रकार धर्म का मूल है 'विनय' और उसका परम (अन्तिम) फल है मोक्ष। विनय के द्वारा मुनि कीर्त्ति, श्लाघनीय-श्रुत और समस्त इष्ट तत्त्वो को प्राप्त होता है। (९।२।२)

३६१—जो चण्ड, अज्ञ (मृग), स्तब्ध, अप्रियवादी, मायावी और शठ है, वह अविनीतात्मा संसार-स्रोत मे वैसे ही प्रवाहित होता रहता है, जैसे नदी के स्रोत मे पड़ा हुआ काठ। (९।२।३)

३६२—विनय मे उपाय के द्वारा भी प्रेरित करने पर जो कुपित होता है, वह आती हुई दिव्य लक्ष्मी को डण्डे से रोकता है। (९।२।४)

३६३—जे आयरिय-उवज्झायाणं
सुस्सूसा - वयणंकरा ।
तेसिं सिक्खा पवड्ढंति
जल-सित्ता इव पायवा ॥ (९।२।१२)

३६४—अप्पणट्ठा परट्ठा वा
सिप्पा णेउणियाणि य ।
गिहिणो उवभोगट्ठा
इहलोगस्स कारणा ॥ (९।२।१३)

३६५—जेण बंधं वहं घोरं
परियावं च दारुणं ।
सिक्खमाणा नियच्छंति
जुत्ता ते ललिइंदिया ॥ (९।२।१४)

३६६—ते वि तं गुरुं पूयंति
तस्स सिप्पस्स कारणा ।
सक्कारेंति नमंसंति
तुट्ठा निद्देस-वत्तिणो ॥ (९।२।१५)

३६३—जो मुनि आचार्य और उपाध्याय की शुश्रूषा और आज्ञा-पालन करते है, उनकी शिक्षा उसी प्रकार बढती है, जैसे जल से सीचे हुए वृक्ष। (६।२।१२)

३६४—जो गृही अपने या दूसरों के लिए, लौकिक उपभोग के निमित्त शिल्प और नैपुण्य सीखते है, (६।२।१३)

३६५—वे शिल्प-ग्रहण करने मे लगे हुए पुरुष, ललितेन्द्रिय होते हुए भी शिक्षा-काल मे घोर बन्ध, वध और दारुण परिताप को प्राप्त होते हैं। (६।२।१४)

३६६—वे भी उस शिल्प के लिए उस गुरु की पूजा करते हैं, सत्कार करते है, नमस्कार करते है और सतुष्ट होकर उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। (६।२।१५)

३६७—किं पुण जे सुय-ग्गाही
अणंत - हिय - कामए।
आयरिया जं वए भिक्खू
तम्हा तं नाइवत्तए ॥ (९।२।१६)

३६८—जस्संतिए धम्म-पयाइ सिक्खे
तस्संतिए वेणइयं पउंजे।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ
कायग्गिरा भो मणसा य निच्चं ॥ (९।१।१२)

३६९—राइणिएसु विणयं पंउजे ॥ (८।४०)

३७०—विवत्ती अविणीयस्स
संपत्ती विणियस्स य।
जस्सेयं दुहओ नायं
सिक्खं से अभिगच्छइ ॥ (९।२।२१)

३६७—जो आगम-ज्ञान को पाने मे तत्पर और अनन्त हित (मोक्ष) का इच्छुक है, उसका फिर कहना ही क्या ? इसलिए आचार्य जो कहे भिक्षु उसका उल्लघन न करे। (६।२।१६)

३६८—जिसके समीप धर्म-पदों की शिक्षा लेता है, उसके समीप विनय का प्रयोग करे। शिर को झुकाकर हाथों को जोड़कर (पञ्चाङ्ग वन्दन कर) काया, वाणी और मन से सदा सत्कार करे। (६।१।१२)

३६९—रात्निकों (आचार्य, उपाध्याय और दीक्षा-पर्याय मे ज्येष्ठ साधुओं) के प्रति विनय का प्रयोग करे। (८।४०)

३७०—अविनीत के विपत्ति और विनीत के सम्पत्ति होती है—ये दोनों जिसे ज्ञात है, वही शिक्षा को प्राप्त होता है। (६।२।२१)

३७१—निद्देस-वत्ती पुण जे गुरूणं
सुयत्थ-धम्मा विणयम्मि कोविया।
तरित्तु ते ओहमिणं दुरुत्तरं
खवित्तु कम्मं गइमुत्तमं गय॥ (६।२।२३)

३७१—और जो गुरु के आज्ञाकारी हैं, जो गीतार्थ हैं, जो विनय मे कोविद् है, वे इस दुस्तर ससार-समुद्र को तर कर कर्मों का क्षयकर उत्तम गति को प्राप्त होते है। (६।२।२३)

४६ : विणयाविणय

३७२—थंभा व कोहा व मय-प्पमाया
गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे।
सो चेव उ तस्स अभूइभावो
फलं व कीयस्स वहाय होइ ॥ (९।१।१)

३७३—जे यावि मंदि त्ति गुरुं विइत्ता
डहरे इमे अप्पसुए त्ति नच्चा।
हीलंति मिच्छं पडिवज्जमाणा
करेंति आसायण ते गुरूणं ॥ (९।१।२)

३७४—तहेव अविणीयप्पा
उववज्झा हया गया।
दीसंति दुहमेहंता
आभिओगमुवट्ठिया ॥ (९।२।५)

४६ : विनय और अविनय

३७२—जो मुनि गर्व, क्रोध, माया या प्रमादवश गुरु के समीप विनय की शिक्षा नही लेता, वही (विनय की अशिक्षा) उसके विनाश के लिए होती है, जैसे—कीचक (बांस) का फल उसके वध के लिए होता है। (९।१।१)

३७३—जो मुनि गुरु को—यह मंद है, यह अल्पवयस्क और अल्प-श्रुत है—ऐसा जानकर उसके उपदेश को मिथ्या मानते हुए उसकी अवहेलना करते हैं, वे गुरु की आशातना करते हैं। (९।१।२)

३७४—जो औपवाह्य (चढने योग्य) घोडे और हाथी अविनीत होते हैं, वे आभियोग्य (भार-वहन) के लिए वाध्य किए जाने पर दुःख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं। (९।२।५)

३७५—तहेव सुविणीयप्पा
उववज्झा हया गया ।
दीसंति सुहमेहंता
इड्ढिं पत्ता महायसा ॥ (६।२।६)

३७६—तहेव अविणीयप्पा
लोगंसि नर-नारिओ ।
दीसंति दुहमेहंता
छाया विगलितेंदिया ॥ (६।२।७)

३७७—दण्ड-सत्थ-परिजुण्णा
असब्भ वयणेहि य ।
कलुणा विवन्नछंदा
खुप्पिवासाए परिगया ॥ (६।२।८)

३७८—तहेव सुविणीयप्पा
लोगंसि नरनारिओ ।
दीसंति सुहमेहंता
इड्ढिं पत्ता महायसा ॥ (६।२।६)

३७५—जो औपवाह्य घोडे और हाथी सुविनीत होते है, वे ऋद्धि और महान् यश को पाकर सुख का अनुभव करते हुए देखे जाते है। (६।२।६)

३७६—लोक मे जो पुरुष और स्त्री अविनीत होते हैं, वे क्षत-विक्षत या दुर्बल, इन्द्रिय-विकल है। (६।२।७)

३७७—दण्ड और शस्त्र से जर्जर, असभ्य वचनों के द्वारा तिरस्कृत, करुण, परवश, भूख और प्यास से पीडित होकर दुःख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं। (६।२।८)

३७८—लोक मे जो पुरुष या स्त्री सुविनीत होते है, वे ऋद्धि और महान् यश को पाकर सुख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं। (६।२।९)

३७९—तहेव अविणीयप्पा
देवा जक्खा य गुज्झगा ।
दीसंति दुहमेहंता
आभिओगमुवट्ठिया ॥ (९।२।१०)

३८०—तहेव सुविणीयप्पा
देवा जक्खा य गुज्झगा ।
दीसंति सुहमेहंता
इड्ढिं पत्ता महायसा ॥ (९।२।११)

३८१—दुग्गओ वा पओएणं
चोइओ वहई रहं ।
एवं दुबुद्धि किच्चाणं
वुत्तो वुत्तो पकुव्वई ॥ (९।२।१९)

३७९—जो देव, यक्ष और गुह्यक (भवनवासी देव) अविनीत होते हैं, वे सेवा-काल मे दुःख का अनुभव करते हुए देखे जाते है (९।२।१०)

३८०—जो देव, यक्ष और गुह्यक सुविनीत होते हैं, वे ऋद्धि और महान् यश को पाकर सुख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं। (९।२।११)

३८१—जैसे दुष्ट बैल चाबुक आदि से प्रेरित होने पर रथ को वहन करता है, वैसे ही दुर्बुद्धि शिष्य आचार्य के बार-बार कहने पर कार्य करता है। (९।२।१९)

४७ : गुरु-पूया

३८२—पगईए मंदा वि भवंति एगे
डहरा वि य जे सुय-बुद्धोववेया।
आयारमंता गुण-सुट्ठिअप्पा
जे हीलिया सिहिरिव भास कुज्जा ॥ (६।१।३)

३८३—जे यावि नागं डहरं ति नच्चा
आसायए से अहियाय होइ।
एवायरियं पि हु हीलयंतो
नियच्छई जाइपहं खु मंदे ॥ (६।१।४)

३८४—आसीविसो यावि परं सुरुट्ठो
किं जीवनासाओ परं नु कुज्जा।
आयरियपाया पुण अप्पसन्ना
अबोहि आसायण नत्थि मोक्खो ॥ (६।१।५)

४७ : गुरु-पूजा

३८२—कई आचार्य स्वभाव से ही मद होते है और कई अल्प-वयस्क होते हुए भी श्रुत और बुद्धि से सम्पन्न होते हैं। आचारवान् और गुणो मे सुस्थितात्मा आचार्य अवमानित होने पर अग्नि की तरह गुण-राशि को भस्म कर डालते हैं। (६।१।३)

३८३—जो कोई—यह सर्प छोटा है—ऐसा जानकर उसकी आशातना (कदर्थना) करता है, वह (सर्प) उसके अहित के लिए होता है। इसी प्रकार अल्पवयस्क आचार्य की भी अवहेलना करने वाला मद ससार मे परिभ्रमण करता है। (६।१।४)

३८४—आशीविष सर्प अत्यन्त क्रुद्ध होने पर भी 'जीवन-नाश' से अधिक क्या (अहित) कर सकता है? परन्तु आचार्यपाद की अप्रसन्नता अबोधि (सम्यक्त्व का नाश) कर देती है। अतः गुरु की आशातना से मोक्ष नही मिलता। (६।२।५)

३८५—जो पावगं जलियमवक्कमेज्जा
आसीविसं वा वि हु कोवएज्जा ।
जो वा विसं खायइ जीवियट्ठी
एसोवमासायणया गुरूणं ॥ (६।१।६)

३८६—सिया हु से पावय नो डहेज्जा
आसीविसो वा कुविओ न भक्खे ।
सिया विसं हालहलं न मारे
न यावि मोक्खो गुरुहीलणाए ॥ (६।१।७)

३८७—जो पव्वयं सिरसा भेत्तुमिच्छे
सुत्तं व सीहं पडिबोहएज्जा ।
जो वा दए सत्ति-अग्गे पहारं
एसोवमासायणया गुरूणं ॥ (६।१।८)

३८८—सिया हु सीसेण गिरिं पि भिंदे
सिया हु सीहो कुविओ न भक्खे ।
सिया न भिंदेज्ज व सत्ति-अग्गं
न यावि मोक्खो गुरु-हीलणाए ॥ (६।१।६)

३८५—कोई जलती अग्नि को लांघता है, आशीविष सर्प को कुपित करता है और जीवित रहने की इच्छा से विष खाता है, गुरु की आशातना इनके समान है—ये जिस प्रकार हित के लिए नही होते, उसी प्रकार गुरु की आशातना हित के लिए नही होती। (६।१।६)

३८६—सम्भव है कदाचित् अग्नि न जलाए, सम्भव है आशीविष सर्प कुपित होने पर भी न खाए और यह भी सम्भव है कि हलाहल विष भी न मारे, परन्तु गुरु की अवहेलना से मोक्ष सम्भव नही है। (६।१।७)

३८७—कोई शिर से पर्वत का भेदन करने की इच्छा करता है, सोए हुए सिंह को जगाता है और भाले की नोक पर प्रहार करता है, गुरु की आशातना इनके समान है। (६।१।८)

३८८—सम्भव है सिर से पर्वत को भी भेद डाले, सम्भव है सिंह कुपित होने पर भी न खाए और यह भी सम्भव है कि भाले की नोक भी भेदन न करे, पर गुरु की अवहेलना से मोक्ष सम्भव नही है। (६।१।९)

३८९—आयरियपाया पुण अप्पसन्ना
अबोहि आसायण नत्थि मोक्खो ।
तम्हा अणाबाह-सुहाभिकंखी
गुरुप्पसायाभिमुहो रमेज्जा ॥(९।१।१०)

३९०—जहाहियग्गी जलणं नमंसे
नाणाहुईमंतपयाभिसित्तं ।
एवायरियं उवचिट्ठएज्जा
अणंतनाणोवगओ वि संतो ॥ (९।१।११)

३९१—जस्संतिए धम्म-पयाइ सिक्खे
तस्संतिए वेणइयं पउंजे ।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ
कायग्गिरा भो मणसा य निच्चं ॥(९।१।१२)

३९२—लज्जा दया संजम बंभचेरं
कल्लाणभागिस्स विसोहि-ठाणं ।
जे मे गुरू सययमणुसासयंति
ते हं गुरू सययं पूययामि ॥ (९।१।१३)

३८९—आचार्यपाद के अप्रसन्न होने पर बोधि-लाभ नहीं होता, गुरु की आशातना से मोक्ष नही मिलता। इसलिए अनाबाध सुख चाहने वाला मुनि गुरु की प्रसन्नता के अभिमुख होकर रमण करे। (९।१।१०)

३९०—जैसे आहिताग्नि (अग्निहोत्री) ब्राह्मण विविध आहुति और मंत्रपदो से अभिषिक्त अग्नि को नमस्कार करता है, वैसे ही शिष्य अनन्तज्ञान-सम्पन्न होते हुए भी आचार्य की विनय-पूर्वक सेवा करे। (९।१।११)

३९१—जिसके समीप धर्म-पदों की शिक्षा लेता है, उसके समीप विनय का प्रयोग करे। शिर को झुकाकर हाथो को जोडकर (पञ्चाङ्ग वन्दन कर) काया, वाणी और मन से सदा सत्कार करे। (९।१।१२)

३९२—लज्जा (अपवाद-भय) दया, सयम और ब्रह्मचर्य कल्याण-भागी साधु के लिए विशोधि-स्थल है। जो गुरु मुझे उनकी सतत शिक्षा देते है, उनकी मैं सतत करता हूँ। (९।१।१३)